अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ का साप्ताहिक मुखपत्र

भूदान-यज्ञ

भूदान-यज्ञ मूलक ग्रामोद्योग प्रधान अहिंसक क्रांति का सन्देशवाहक

वार्षिक मूल्य ५) ✠ सम्पादक : धीरेन्द्र मजूमदार ✠ एक प्रति २ आना

वर्ष–३, अंक–१७ ✠ राजघाट, काशी ✠ शुक्रवार, २५ जनवरी, '५७

सत्-आवन का संवत्सर यह, सत्तावन का शुभ अवसर है।
भूमिक्रांति लाना निश्चय हो, भारत में करुणा की जय हो।
जन-मन में बस यह चिंतन हो, मानव-दिल में यही लगन हो॥
सत्तावन का साल सफल हो, विश्व शांति की राह सरल हो।
सत्याग्रह का मर्म समझ लें, आत्मार्पण का अर्थ समझ लें॥
स्वार्थ त्याग का गुह्य समझ लें, बिंदु सिंधु का मेल समझ लें।
भूमिक्रांति के शंख-नाद को, बधिरों के हृदयों में भर दें॥
सर्वोदय के साम-गान से, साम्ययोग के ध्यान-ज्ञान से।
भेदभाव का नाम मिटायें, भ्रातृभाव का रंग चढ़ायें॥
अपने जैसे सबको पायें, मानव हैं, मानव बन जायें।
नयी लहर पर नाव चलायें, सत्तावन को सफल बनायें॥
सत्तावन को सफल करेंगे, क्रांति-पताका फहरायेंगे।
दुनिया में हम नाम करेंगे, रामराज्य को सिद्ध करेंगे॥

—गोकुलभाई भट्ट

गांधीजी और समाजवाद

(जयप्रकाश नारायण)

"अरे ! वह तो गांधीवादी समाजवादी है"—कुछ हलकों में किसी समाजवादी पर लानत पुकारने के लिए इतना कह देना काफी है। दूसरे कुछ हलकों में गांधी-जयंति मनाना धर्मद्रोह के बराबर माना जाता है, जिसके लिए बिरादरी से बहिष्कार की सजा हो सकती है। इस तरह की कोती नज़र से गांधीवाद या गांधीजी का कुछ नहीं बिगड़ना, बल्कि समाजवाद का ही नुकसान होता है। गांधीजी एक सामाजिक चमत्कार थे। समाजवाद को चाहिए कि उनको समझने की कोशिश करे, बात उड़ा देने की कोशिश न करे। गांधी के बाद का संसार इस तरह अपना काम नहीं चला सकता कि मानो गांधी हुआ ही न हो ! हर मोड़ पर, हर मौके पर उनकी बुलन्द आवाज सहसा प्रतिध्वनित हो उठेगी।

गांधीजी एक सत्यान्वेषी पुरुष थे। सत्य की खोज उन्होंने जिंदगी से दूर जाकर नहीं की, जिंदगी से परे नहीं की, बल्कि जिंदगी में ही की। उन्होंने कर्म में सत्य का शोध किया। जो लोग दीन, हीन और सर्वहारा हैं, उनकी सेवा में उन्होंने सत्य के दर्शन करने की साधना की। समाजवाद भी जीवन के भीतर कर्म में और साधारण मनुष्य की सेवा द्वारा सत्य की खोज का प्रयास है।

गांधीजी क्रांतिकारी थे; महज दार्शनिक नहीं थे। जिंदगी को सिर्फ समझने में उनको खास दिलचस्पी नहीं थी। वे जिंदगी को बदलना चाहते थे। उन्होंने तवारीख बदल दी। अपनी मौत से भी उन्होंने सामाजिक परिवर्तन का वेग इतना बढ़ा दिया कि संग-दिल वाले आदमी भी पस्तहिम्मत होकर रास्ते के किनारे ढेर हो गये। समाजवाद भी एक क्रांतिकारी निष्ठा है। वह समाज को समझ कर उसे बदलने की कोशिश करता है।

गांधीजी क्रांतिकारी इसलिए थे कि जनता उनकी में श्रद्धा थी और जनता के पुरुषार्थ में उनका विश्वास था। वे कोई विधानवादी नहीं थे, जो समाज को विप्लव में ढकेलने से डरते। समाजवाद भी जनता में श्रद्धा रखता है और जनता के पुरुषार्थ का भरोसा करता है।

गांधीजी इसलिए क्रांतिकारी थे कि उनमें अपनी निष्ठा पर दृढ़ रहने का साहस था। उनकी निष्ठा में से जो चीज तर्कप्राप्त होती थी, उसको वे अन्त तक निबाहते थे। क्षुद्र पूंजीवाद के पूर्वग्रहों से उनका व्यक्तित्व सीमित नहीं होता था। समाजवाद की भी अपनी एक अबाधित तर्क-पद्धति है, जिससे वह मध्यमवर्ग के संशयवाद की इमारत को छिन्न-भिन्न कर देता है।

गांधीजी आग्रहवादी नहीं थे। वे व्यवहारनिष्ठ प्रयोगपरायण और वैज्ञानिक थे। समाजवाद भी वैसा ही है। गांधीजी समाज को बदलने के लिए व्यक्ति को बदलने पर जोर देते थे। समाजवाद भी मानता है कि जब तक मनुष्य नहीं बदलेगा, तब तक समाज का परिवर्तन स्थायी नहीं हो सकता।

गांधीजी मार्क्सवादी नहीं थे। वे अपने आप थे। मार्क्स भी मार्क्सवादी नहीं था। वह अपने आप था। दोनों प्रधान रूप से कर्मयोगी थे, हालाँकि विचार की गहराई दोनों में कम नहीं थी। जागतिक समाजवाद और खास कर भारतीय समाजवाद यदि विज्ञान का जामा पहन कर अकड़ दिखलाने वाले आग्रहवाद का और पुराण-मतवाद का शिकार बन कर गांधी के ऐतिहासिक महत्त्व की तरफ से आँख मीच लेगा, तो उसकी बहुत हानि होगी। (३० जनवरी, १९४९)

निधिमुक्ति का क्रांत-दर्शन

(अप्पासाहब पटवर्धन)

विनोबाजी की प्रेरणा से सर्व-सेवा-संघ ने भूदान-आंदोलन को तंत्रमुक्त और कार्यकर्ताओं को निधिमुक्त करने का जो प्रस्ताव किया, वह क्रांतिकारक है। भूदान-कार्यकर्ताओं के लिए ही नहीं, सेवा-कार्यों में लगे हुए सभी कार्यकर्ताओं और संस्थाओं के लिए भी वह प्रेरक और मार्गदर्शक हो सकता है। पहले हम सेवकों की निधिमुक्ति पर विचार करें। निधिमुक्ति के भी दो पहलू हैं : एक संचित निधि से मुक्ति, दूसरा केंद्रित निधि से मुक्ति।

संचित निधि याने बासी भोजन ! दाता ने उस-उस अवसर पर उस-उस कार्य और कार्यकर्ता के प्रति आदर और श्रद्धा के कारण दिया हुआ वह दान याने माँ के दूध का सोता ही है। उसमें जो वात्सल्य और पौष्टिकता है, वह बंद डिब्बे के 'मिल्क पावडर' में कहाँ से आ सकती है ? कुछ संस्थाएँ और उनके काम तो संचित निधि के सूद पर ही चलते हैं ! वहाँ मूल धन को स्पर्श भी नहीं किया जा सकता ! और सूद याने बिना मेहनत की कमाई ही। संकट में फँसे हुए गरज़मंद कर्जदार को चूस कर या आलसी, व्यसनी और उड़ाऊ व्यक्ति को फुसला कर उससे हड़पा हुआ धन अर्थात् पाप का ही वह धन है ! अस्पताल के खर्च के लिए लॉटरी निकालना जैसे अनुचित है, वैसे ही सत्कार्य के लिए सूद-रूपी पाप-संचय करना गलत है। जो संस्थाएँ केवल सूद का ही उपयोग करने के बंधन से मुक्त हैं, उनकी भी संचित निधि केवल सुरक्षितता के लिए ही नहीं, अपितु ब्याज के भी लोभ से बड़ी-बड़ी बैंकों में रखी जाती है। इसीलिए वे अधिकांश धन 'फिक्स्ड डिपॉज़िट' में रख देती हैं। इस पर उन्हें अधिक सूद मिलता है, लेकिन बैंकें तो उसमें से, और दूसरी रकमों में से भी, बेरहम सूद-खोरी करती ही रहती हैं। व्यक्तिगत साहूकार को कुछ तो दया-दर्द हो सकता है, लेकिन उसका लेश-मात्र भी अंश इन यंत्रवत् बैंकों के पास नहीं होता है। या फिर वे ऐसे बड़े-बड़े पूँजीवादी कारखाने चलाती हैं, जो उन संस्थाओं के कामों की जड़ें ही खोदते हैं। जैसे, हाथकूटे चावल के प्रचार और संगठन के लिए कोई दानी दस लाख रुपया देता है ! उसके सूद में से, और मूल धन में से भी, ढेंकी चलाने का और प्रचारकों को जीवन-वेतन देने का यदि सोचा जाय, तो उस ट्रस्ट की रकम में से एक बहुत बड़ी चावल की मिल चल सकती है। मिल के बाहर ही हमारा त्यागी तथा भुक्कड़ प्रचारक भी कुछ ढेंकियाँ सामने रख कर हाथकुटे, चावल की पौष्टिकता का विज्ञापन पत्रकों द्वारा देहातियों के बीच करेगा, ताकि उनकी रद्दी क़ागज़ों की आवश्यकता भी पूरी हो ! अंग्रेजी में संचित निधि को तो 'कॉर्पस्' ही कहते हैं ! "कॉर्पस् और कॉरप्स्" (मुर्दा) में क्या एक भीषण समानता नहीं दिखती है ?

यह सही है कि संचित निधि के कारण संस्था और सेवकों को निश्चितता प्राप्त होती है। लेकिन उसी निश्चितता में से सुस्ती भी उभर आती है। जैसे, करोड़ों रुपयों की गांधी-स्मारक-निधि इकट्ठी हुई और उसका सोलहवाँ हिस्सा हरिजन-कार्य में खर्च करने का भी तय हुआ। परिणामतः अस्पृश्यता नष्ट करने

www.vinoba.in

के लिए अब दस-बारह साल तो भी सेवकों को लोगों के पास जाने की और मुँह बिचकाने की जरूरत नहीं रही ! याने आज ही अस्पृश्यता-निर्मूलन अनावश्यक ही नहीं, खतरनाक भी हो गया !

यह संकट-परंपरा छोड़ भी दें, तो भी संचित निधि का परिणाम यह होता है कि कार्य के लिए निधि एकत्र करने के बदले निधि है, इसलिए कार्य-योजना करना पड़ता है और कार्यकर्ता खोजने पड़ते हैं ! फिर उसके लिए विज्ञापन भी देने होते हैं। अखबारों के "चाहिए" स्तंभ को पढ़ने वाले पाठक ही फिर प्राप्त होंगे ! सेवक के निर्वाह के लिए निधि प्राप्त करने की जरूरत नहीं रहती, निधि से आकर्षित सेवक-वर्ग ही तैयार होता है ।

इस तरह संचित निधि अनेक प्रकार से कार्य और कार्यकर्ता के लिए दुष्परिणामकारक सिद्ध होती है। ये परिणाम तुरंत नहीं महसूस होते हैं, धीरे-धीरे ही दिखते हैं। जैसा कि सर्व-सेवा-संघ के प्रस्ताव में कहा गया है, नये पौधे के रक्षण के लिए लगायी गयी बाड़ ही कुछ समय के बाद उस वृक्ष की वृद्धि में बाधक बन जाती है और फिर वह ताड़नी ही पड़ती है। यह हुई संचित निधि की बात। केंद्रित निधि भी संचित ही होनी चाहिए, ऐसी कोई जरूरत नहीं। जरूरत के समय वह इकट्ठी होती होगी और खर्च भी होती होगी। संचित निधि के दोष उसमें नहीं हैं, लेकिन केंद्रीयकरण में दूसरी बाधाएँ और खतरे हैं।

नवजात शिशुओं को उनकी-उनकी माताएँ दूध पिलायें, इसीमें सुविधा और आनंद है। सब माताओं का दूध निकाल कर एकत्रित करना और फिर नियमित समय में, नियमित परिमाण में बालकों को वह पिलाना कुछ मामले में लाभप्रद हो, तो भी बहुत से मामलों में वह व्यर्थ और परेशानी का ही काम होगा। बड़ी बात तो यह होगी कि माता और शिशु में दुराव होगा। सेव्य जनता और सेवक कार्यकर्ता, इनके बीच के संबंध भी माता और बालक के-से ही रहें, इसीमें सुख और इसीमें सुविधा है। सेवक को जनताभिमुख तो होना चाहिए। जिनमें काम करना है और जिनकी सेवा करनी है, उनके विषय में ही ऐसे लापरवाह बन कर कैसे चलेगा ?

निधि के अर्थात् जनाश्रय के केंद्रीयकरण के कारण संचालन का भी एक बोझिल तंत्र खड़ा हो जाता है। नेता और अनुयायी के रिश्ते की जगह अधिकारी और आज्ञाकारी का रिश्ता पैदा होता है, जो सेवा को ही जड़ खोदता है। सेवकों का "केडर" (स्तर) और 'स्केल' (श्रेणी) फिर खड़ी होती है और एक "सर्विस" ही तैयार हो जाती है । "सर्विस" बनी, तो सेवा का दम घुटने लगता है, कार्य में पराधीनता आती है। पराधीनता में से विलंब, अपेक्षाभंग, अड़चनें आदि अनेक आपत्तियाँ सहज खड़ी हो जाती हैं।

केंद्रीयकरण के कारण स्वदेशी-निष्ठा का भी भंग होता है। स्वदेशी याने केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही इस्तेमाल नहीं, तो पड़ोसी के बारे में निष्ठा, स्वजन-निष्ठा याने स्वदेशी है। मैं भारत के लिए नितांत भक्तिभावना अनुभव करता हूँ। "हमारा प्रिय महाराष्ट्र" भी मैं अभिमानपूर्वक गाता हूँ। किन्तु कोंकण और खासकर रत्नागिरी जिले के लिए मेरी भावनाएँ 'वह आश्रित और मैं आश्रयदाता या उपकारक' के रूप में रहती हैं और अपने गाँव और ग्रामीणों के बारे में मुझे तिरस्कार ही महसूस होता है, तो यह देशद्रोह ही है।

जिन लोगों के बीच मैं काम करता हूँ, वे जो कुछ रूखा-सूखा मुझे देंगे, वही मैं मधुर बना लूँ और उसी पर संतुष्ट रहूँ, यही स्वदेशी-धर्म है। भूदान-कार्यकर्ता अब ग्रामराज स्थापन करने के लिए निकले हैं, तो ग्रामवासियों के संबंध में तुच्छता या अश्रद्धा रख कर लक्ष्य-प्राप्ति कैसे होगी ? ग्रामबंधु जो रूखी-सूखी रोटी देंगे—शायद कभी न भी दें—वही मेरे लिए "ग्लेक्सो" और वही मेरा लंघनोपचार है !

(मूल मराठी; "भूदान-यज्ञ" से साभार)

सत्-आचरण की प्रार्थना : २.

(आशादेवी आर्यनायकम्)

फिर बाईबल में से मैथ्यू (मत्ती) रचित सुसमाचार पढ़ा गया :

तब प्रभु यीशु इज़राईल के नगर-नगर और गाँव-गाँव फिरते रहे, जनसभाओं में उपदेश करते रहे, 'भगवान् का राज्य आने वाला है'– यह सुसमाचार-प्रचार करते रहे और जनता की हर प्रकार की बीमारियां और पापों को दूर करते रहे। जब-जब वे व्याकुल और भटकी हुई जनता की भीड़ को देखते थे, उनका हृदय करुणा से भर जाता था, क्योंकि यह जनता उन भेड़ों की नाईं थी, जिनका कोई रखवाला न हो। तब उन्होंने अपने चेलों को बुलाया और कहा कि देखो, खेत तो पकी फसल से भरा हुआ है, लेकिन फसल काटने वाले बहुत थोड़े ही हैं। इसलिए सब फसलों में परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करो कि वे इस फसल को इकट्ठा करने के लिए अपने सेवकों को भेजें।" (अध्याय ९)

तब उन्होंने अपने पास अपने बारह चेलों को बुलाया और मनुष्य के पापों को और बीमारियों को दूर करके उन्हें शुद्ध और स्वस्थ बनाने की शक्ति दी और उन्हें भेजते हुए उनसे कहा : "तुम शहरों में न जाकर भूले और भटके लोगों में जाओ और चलते-चलते लोगों से कहो कि स्वर्ग का राज्य अब निकट आ गया है। दुखियों का दुःख दूर करो, मरे हुए लोगों में जीवन को जाग्रत करो। लोगों के हृदय से पापों को दूर करो। मर-मर कर तुमने पाया है, मर मर कर ही तुम लोगों को दो।...अपने पास न सोना रखो, न चाँदी, न तांबा, न अपने साथ बिस्तर के कपड़े रखो, न जो कपड़े तुम पहने हो, उनके सिवाय दूसरे वस्त्र ही लो। जूते भी न लो, लाठी भी अपने साथ न रखो, क्योंकि सच्चे काम करने वाले को अपनी मजदूरी मिल ही जाती है।

"जब किसी भी शहर में तुम प्रवेश करो, तो पता लगाओ कि उस गाँव में सज्जन कौन हैं। उनके पास जाओ और जब तक तुम वह स्थान न छोड़ो, उन्हींके पास रहो। जब तुम किसी घर में प्रवेश करो, तो उसे प्रणाम करो। यदि वह स्थान सर्वथा तुम्हारे उपयुक्त है, तो तुम्हारी शान्ति उनके पास पहुँचेगी। यदि नहीं, तो तुम्हारी शांति तुम्हारे ही पास वापिस आयेगी।

"देखो, मैं तुम्हें भेड़ियों के बीच में भेड़ों के समान भेज रहा हूँ। तुम नागों के समान बुद्धिमान् और कबूतरों के समान भोले बनो। किन्तु लोगों से सावधान रहो, क्योंकि लोग सभाओं में तुम्हारा अपमान करेंगे, तुम्हें कोड़ों से भी पिटवायेंगे। तुम्हें राजाओं और अधिकारियों के सामने मेरे कारण ईश्वर की गवाह देने भेजेंगे। मगर ऐसे समय तुम अपने मन में इस बात की चिंता न करो कि तुम क्या कहोगे, क्योंकि तुम्हें क्या कहना है, इसकी प्रेरणा अपने आप तुम्हें उस समय मिल जायगी; क्योंकि उस समय तुम नहीं बोलोगे, तुम्हारे पिता परमेश्वर की आत्मा तुम्हारे द्वारा बोलेगी।

"जो अपने जीवन को संभालता रहता है, वह उसे खोता है, किन्तु मेरे लिए जो अपना जीवन समर्पण करता है, वह वास्तव में उसे पाता है। जो भी छोटे-से छोटे लोगों को ईश्वर के भक्त मान कर एक गिलास ठंडा पानी भी पिलायेगा, मैं तुमसे सच कहता हूँ, उसे उसका प्रतिफल अवश्य मिलेगा।" (अध्याय १०)

जब भक्त-जन इस प्रकार गाँव-गाँव और नगर-नगर में प्रचार करते रहे, तो मन्दिर के पुरोहित, सरदार और सदूकी उन पर चढ़ आये, क्योंकि वे बहुत क्रुधित हुए कि वे लोगों को सिखाते थे और यीशु का उदाहरण दे-दे कर मरे हुओं के जी उठने का प्रचार करते थे और उन्होंने उन्हें पकड़ कर दूसरे दिन तक हवालात में रखा, क्योंकि संध्या हो गयी थी।

वे छूट कर अपने साथियों के पास आये और एकत्रित होकर ऊँची आवाज से प्रार्थना करने लगे—'हे स्वामी, तू वही है, जिसने स्वर्ग और पृथ्वी और समुद्र और जो कुछ उनमें हैं, बनाया है।' और जब उनकी प्रार्थना पूरी हुई, तो उनकी प्रार्थना का स्थान, जहाँ वे इकट्ठे हुए थे, काँपने लगा, क्योंकि उन सबके हृदय भगवान् की पवित्र आत्मा से भरे हुए थे और वे दृढ़तापूर्वक ईश्वर का वाणी बोलने लगे और विश्वास करने लगे कि मण्डली एक चित्त और एक मन के थे। यहाँ तक कि कोई भी अपनी संपत्ति अपनी नहीं कहता था, परन्तु सब कुछ साझे का था। और उनमें कोई भी दरिद्र न था, क्योंकि जिनके पास भूमि या घर थे, वे उनको बेच कर बिकी हुई वस्तुओं का दाम लाते और उसे प्रेरितों के पाँवों पर रखते थे और जैसी जिसे आवश्यकता होती थी, उसके अनुसार हर एक को बाँट दिया करते थे।

('प्रेरितों के काम', अध्याय ४)

---

www.vinoba.in

कितने हैं ऐसे 'सीताराम' को देखने वाले ?

(वासुदेव शरण अग्रवाल)

यह राम का नाम नहीं, एक मनुष्य का नाम है। धूप से भरे हुए मेरे कमरे में वह अभी आकर खड़ा हो गया। उस दुःख भरे पंजर को देख कर और उसकी करुण कथा सुन कर वेद की पोथी मेरे हाथ से छूट पड़ी और मेरा चित्त विह्वल हो गया। सीताराम ने कहा—"मैं कुछ दिन पहले आपके यहाँ काम कर गया था। आपने पहचाना ?" मैंने कहा—"हाँ।" उसने कहा—"मैं आपका एक रुपया लेकर चला गया था। आपसे बिना कहे मुझे गाँव चला जाना पड़ा। बात यह हुई कि मेरा जो भाई अस्पताल में भर्ती था, जिसे फल खिलाने के लिए मैंने रुपया लिया था, वह अगले दिन सवेरे गत हो गया। मैंने बहुत दुख पाया और मैं गाँव चला गया।" सुन कर मैंने कहा—"गाँव में ही क्यों नहीं रहे ?" उसने कहा—"वहाँ क्या रहता बाबूजी, पानी-पत्थर पड़े हैं। छोटी गिरस्थी थी। बरबाद हो गयी। बहुत दुख है।" फिर उसने अपना फटा हुआ कुरता और चादर दिखाते हुए कहा—"ये फट गये हैं। और कुछ नहीं है। अब कुछ काम करूँगा, तो नया बनवाऊँगा।" सीताराम ने ये वाक्य किसी तरह बात संभालने के लिए कहे, अन्यथा उसकी स्थिति ऐसी थी कि वह जो दिन भर में कमाता, शाम को उससे तो माँ-पत्नी और भाई का पेट भी मुश्किल से भर पाता था। मजदूरी से पेट भर जाय, यही क्या कम था ? कपड़े की बात कैसी ? लगभग दो महीने पहले वह इसी तरह एक दिन आया था और उसने दीन भाव से कहा—"मुझे दो दिन से कुछ खाने को नहीं मिला है। पहले आप कुछ खिला दीजिये और फिर काम करने को दीजिये।" उसका यह वाक्य तीर की तरह मन को छेदता चला गया। अर्थशास्त्र और राजनीति, धर्मशास्त्र और नीति के सब आदर्श मुझे कचोटने लगे। सीताराम तो केवल एक नमूना है। वह रोएँ-रोएँ से सच्चा और अभावग्रस्त है, देह और मन दोनों से टूटा हुआ है। वह काम चाहता है, पर काम नहीं है। काम की अनहोत ने उसकी कमर तोड़ दी है। 'काम चाहिए'—यही आज लाखों-करोड़ों हाथों की माँग है, जो एक क्षण को भी टाली नहीं जा सकती। सीताराम जैसे ईमानदार आदमी से किसी भी समाज की शोभा बढ़ सकती है। वह इसलिए दुखी हुआ कि किसीका एक रुपया उसके पास क्यों रह गया ! उसकी सचाई की और भी बढ़ी हुई सीमा यह है कि वह काम करके मेहनत से कमा कर जीवित रहना चाहता है। वह भिखमंगे आलसियों की पलटन में जुड़ना नहीं चाहता। पर उसके जीने का ठिकाना नहीं है। उसे काम जीवित रख सकता है। काम उसे दो पैसे का सहारा दे सकता है। पर वह काम भी कहाँ है ? यही आज का बड़ सवाल है। गाँव काम के बिना सुनसान हैं। उनमें जीवन की सुरखी नहीं है। उनकी गोद में जो बसे हैं, वे पतझड़-से पीले पड़े हुए हैं। उन्हींका एक नमूना सीताराम है, जिसने बिजली के नंगे तार की तरह मुझे छू दिया है।

यह बड़ा प्रश्न है। इसका समाधान कैसे होगा और कौन करेगा ? मैं स्वराज्य की बात सोचने लगा। पहले दूसरों के राज में हमारा मन क्रोध से भर जाता था। पर आज तो वह भी नहीं कर सकते, क्योंकि स्वराज्य में बाहरी रुकावट का बहाना नहीं चल सकता। आज तो अपने कर्मों को लेकर स्वयं ही जूझना है। जिनके हाथ में शक्ति है, उन नेताओं की बात मन तुरन्त सोचता है और सीताराम के दुखड़ों का दायित्व उनपर डाल देना चाहता है। क्या उन्हें सीताराम का पता नहीं है या वे देख नहीं रहे हैं ? यह हो ही नहीं सकता अथवा मान लेने को जी नहीं करता, क्योंकि सीताराम एक-दो नहीं हैं, उनके ठट्ठ भरे हैं, चारों ओर सीतारामों की ठटरीदार मूर्तियाँ भरी हैं। कौनसा गाँव-खेड़ा या शहर ऐसा है, जहाँ भारतीय नरकंकाल न हों ? उन्हें मानव कैसे कहें ? नेता बहुत बड़े हैं, उन्हें जनता के कीड़े-मकौड़े क्या दिखायी पड़ रहे हैं ? यदि हाँ, तो क्या यह रोग उनके बूते से बाहर का है ? नेताओं के पास काम बहुत है। समय की कमी जान पड़ती है, जो उन्हें सीतारामों की समस्या पर सोचने का अवकाश नहीं देती। पर वे अपना काम और क्यों बढ़ा लेते हैं ? क्या कुछ समय के लिए उद्घाटन, भाषण और महोत्सवों का जाल स्थगित नहीं किया जा सकता ? दूसरी पंचवार्षिक योजना में क्या यह प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती कि उद्घाटन बन्द रहेंगे, सब भले मानसों की तरह अपना-अपना काम करें ? जब काम पूरा हो जाय, तो समझ लें कि हमने कर्तव्य पालन कर दिया। हम उस ऋण से उऋण हो गये। समय, शक्ति और द्रव्य का जितना अपव्यय आज उद्घाटनों आदि में हो रहा है, वह यदि कोई बुद्धिमान् व्यक्ति पाँच वर्ष के लिए रोक सके, तो वह देश का बहुत हित करेगा। उद्घाटनों आदि ने हमारी प्रकृति को अस्वाभाविक बना डाला है। स्वाभाविक ढंग से कर्तव्यकर्म करने का रस ही हमने खो दिया। दिखावा और आत्मश्लाघा ही हमारी खुराक बन गयी है।

पर सीताराम का दुखड़ा तो बहुत बड़ा है। हम उद्घाटनों से अपने आपको रोक कर भी उसके बारे में सोचना शुरू करें, तब भी पूरा नहीं पड़ेगा। उस दुःख से पार पाने के लिए हमें कुछ पीछे लौटना होगा। हमारे विचार का ध्रुवबिन्दु ही जैसे हमसे आज छूट गया है। भारत की मानव-सम्पत्ति के बारे में हमें फिर से सोचना होगा। जिस बिन्दु पर गांधीजी ने सोचा था, क्या आज हम फिर वहाँ पहुँच सकते हैं ? या हमने यह मान लिया है कि दस बरसों में हमने इतनी प्रगति कर ली है कि अब वहाँ लौटना संभव नहीं है। हमारा सोचना अब मानव के लिए नहीं रहा, मशीन के लिए हो गया है। बड़े-बड़े बाँधों से गाँव-गाँव में बिजली पहुँचायेंगे, तब कल-कारखाने खुलेंगे और उनमें मनुष्यों को काम मिलेगा ! यही हमारे सोचने का ढंग है। पर मनुष्यों के हाथों में भी बिजली की शक्ति है, यह आस्था हमारी डिग गयी है। इन पैंतीस करोड़ मनुष्यों को घटा कर क्या हम इतने पर आ सकेंगे कि जिनके हाथों को मशीनें काम दे सकें ? यदि हम इस प्रकारकी बात नहीं सोच रहे हैं, तो हम क्या सोचते हैं, यह स्पष्ट नहीं है। मनुष्यों के हाथ बेकार पड़े हैं और हम मशीनों के लिए चाँदी की नदी बहा रहे हैं। भारत की दो पंचवार्षिक योजनाएँ केवल मनुष्यों के बेकार बड़े हुए हाथों के बल पर ही चलायी जातीं, तो उन हाथों को काम मिला जाता, देश के पास जो रुपया है, उसका सच्चा उपयोग हो जाता और विदेशों से उधार माँगने की वृत्ति भी न अपनानी पड़ती। एक बात और होती। सरकारी अफसरों की जो पलटन आज योजनाओं के लिए जरूरी समझी जाती है, उसकी भी यह बाढ़ न आती और वे भी भले आदमियों की तरह अपने हाथों से कुछ उत्पादक श्रम करते होते। आश्चर्य है, इतने अनुभव के बाद भी नेताओं ने जनता का भरोसा छोड़ कर अफसरों का भरोसा किया है। जनता काम करने में लग जाती। अफसर सरकारी कवच पहन कर सूरमा बने बैठे हैं। वे श्रम के सिवाय हुक्म पर सब कुछ करने को तैयार हैं। उत्पादक श्रम करना जिस दिन वे सीख लेंगे, उसी दिन अफसरी का ढोंग छोड़ कर सच्चे नागरिक बन जायेंगे। अफसरों की ऐसी बाढ़ आयी है कि जहाँ पहले एक था, वहाँ नये नाम-रूपों में दस हो गये हैं। रक्तबीजों का वंश बढ़ गया है। यदि १९४७ से पहले उन्हें जनसेवक मान सकते, तो आज भी वैसा ही मान कर सुखी हो सकते हैं। नेता सब कुछ कर सकते हैं, पर सरकारी अफसर को वे नहीं बदल सकते। अफसर जन-सेवक की दीक्षा लेगा, तो उसका चोला ही बदल जायेगा। दूसरी योजना में यदि एक या सवा करोड़ सरकारी अफसर बढ़ गये, तो देश और इसके कोश को मानों सदा के लिए हमने गिरवी रख दिया। अफसरों की बाढ़ तो मशीनों के ढंग पर सोचने के कारण ही हुई है। हमें मानव के लिए पहले सोचना चाहिए था। भारतीय आकाश के नीचे रहने वाला मानवीय पक्षी सदियों से अपने पंख खो चुका है, तो पहले पंख मिलने चाहिए और सब योजनाएँ तब तक ठहरेंगी।

किसी भी योजना की सच्ची कसौटी यह है कि उससे बेकारों को कहाँ तक काम मिलता है ? आज अपने देश में चलने वाली प्रत्येक योजना की नाड़ी यही है। इसीकी फड़कन से जनता के स्वास्थ्य की पहचान करनी होगी। जिसका हाथ इस नाड़ी पर है, वही 'सीताराम' का रोग पहचानेगा। 'सीताराम' को जीने के लिए काम चाहिए। उसे जीवित रखने के लिए काम देना होगा। विनोबाजी ने प्रथम योजना को इसीलिए टटोला था। पर काम की गन्ध उसमें नहीं मिली। सरकारी नौकरों के लिए नहीं, काम किसानों के लिए, बेकार मजदूर और स्त्रियों के लिए चाहिए। वह काम भी ऐसा नहीं, जो उन्हें उखाड़ कर शहर या कारखानों में ला पटके, बल्कि उनके गाँवों और झोंपड़ियों में काम का दीपक जलाना होगा, जिसमें उन्हींके अपने श्रम का तेल जलेगा। प्रत्येक क्षेत्र में नये कुटीर-उद्योगों का जाल बिछाना होगा, पुराने उद्योगों के, जो अब तक सिसकते बच गये हों, फेफड़ों में ताजी हवा भरनी होगी और पृथिवी-पुत्रों के मन में श्रम के प्रति नयी

www.vinoba.in

आस्था फैलानी होगी। सारी भूमि को क्षेत्रों में बाँट कर कुटीर-उद्योगों के ढालने के लिए साँचों के रूप में बदलना होगा। तब स्थान-स्थान पर जीवन के नये अंकुर फूटेंगे, बेकार पड़े हुए हाथों को कुछ करने को मिलेगा और आज जिनकी बात सुनने-सोचने वाला कोई नहीं है, उनके कंठों से वाणी फूट निकलेगी। आज की दशा में तो यह मानना कठिन है कि जनता को स्वराज्य मिला। जनतंत्र आता-आता बीच में ही कहीं रुक गया। राजाओं और सामन्तों की चापलूसी करने वाला यत्न अब दूसरे रूप में पनप रहा है और हमारी मनोवृत्ति उसी ठाट-बाट और रंगत में जनता का धन फूँक रही है। रात-दिन उत्सवों की धूम है। जैसे देश की ओर से हम निश्चिन्त हो बैठे हों या बाजे-गाजे के प्रदर्शन से ही यह प्रकट करना रह गया हो कि हम सब सुखी हैं। विज्ञान के युग में शास्त्रीय ढंग से सोचना ही इस युग की विशेषता है। यहाँ गणित के दृढ़ आधार पर जन-कल्याण की आर्थिक और सांस्कृतिक योजना बना कर लोगों को काम में लगाना होगा और तभी दस वर्ष में यह संभव हो सकेगा कि जनता को जीवित रखने वाला काम पैदा किया जा सके। राष्ट्र के हितचिन्तक नेताओं को ही यह दृष्टि अपनानी होगी। कोई भी अब ऐसा व्यक्ति साँस लेता हुआ न मिलेगा, जो दासता के पुराने युग को फिर लाना चाहें। वह तो मर चुका है। पर नया युग पैदा नहीं हो रहा है, यही बीच में गड़बड़ी है। सामाजिक समानता, सुख और न्याय की दृढ़ भूमि पर नवीन समाज की रचना करना ही एकमात्र मार्ग है। उसी उद्देश्य को प्राप्त करना है। उसमें बाधा न पड़े, यही इस समय सोचना है। इस क्रान्ति का आरम्भ हुआ ही था या उसके लिए मार्ग के काँटे दूर हुए ही थे कि हम चलना भूल गये या किसीके वक्र ढंग से सोचने लगे या किसी ऐसे भुलावे में पड़ गये, जिससे कि बचना आवश्यक था। बाहर वाले हमारे बारे में क्या सोचते हैं, वे हमें कैसे देखते हैं, इसकी चिन्ता करना परीक्षार्थी छात्रों के समान बन जाता है। हमें तो घर का दारिद्र्य मेटना है, भूखे 'सीतारामों' के पेट की ज्वाला दूर करना है। कुरता पहनने के लिए सीताराम के पास कपड़ा ही नहीं है, वह उसकी काट और सजावट के भाषण क्या समझेगा? उसकी फटी हुई वेशभूषा और पेट की धधकती हुई आग भारी अभिशाप है। आज वह निरीह और लाचार है। वह इतना पिस चुका है कि सीधे खड़ा रहने योग्य नहीं रह गया है, उसका गला रुँध गया है और वह हमारे जशन देख कर इतना स्तम्भित है कि थाह नहीं पा रहा है। शायद यह कहना ठीक हो कि भारतीय किसान में क्रान्ति की नयी शक्ति नहीं रह गयी है। वह बाट देख रहा है कि आकाश से विमान उतरेगा और सब ठीक हो जायगा! तब तक जीते बच गये, तो भाग्य; और न बचे तो भी भाग्य है। श्रम का नया देवता कहाँ छिपा है और भारतीय पृथिवी-पुत्र की सुध वह कब लेने आयेगा? जिस 'सीताराम' को दो दिन से खाना नहीं मिला है, उसे पहले कुछ खिला दीजिये और उसे काम दीजिये, तात्कालिक प्रार्थना यही है। भारत-भूमि के करोड़ों 'सीताराम' करुणा, सहानुभूति और सहायता के पात्र हैं। वे क्यों ऐसे हैं, इस कारण उन पर क्रोध करना या भभकना ठीक नहीं। उन्हींकी रक्त की लाली से हमारे उत्सवों में रंग आता है!

विश्व के राजनैतिक सन्दर्भ में सर्व-सेवा-संघ का चुनाव-प्रस्ताव

(दादा धर्माधिकारी)

लोकसत्ता की स्थापना के लिए हम जिस तरह का संविधान बनाते हैं, उसकी जो रचना करते हैं, उसे हम लोकतन्त्र कहते हैं। आज जिस तरह का लोकतन्त्र है, वह पूँजीवाद की स्थापना के साथ पश्चिम में स्थापित हुआ। इंग्लैंड के साथ उसकी परिस्थिति में उसका एक रूप हुआ, अमेरिका की परिस्थिति में उसका कुछ दूसरा रूप हुआ। यूरोप के और देशों की परिस्थिति में उसमें कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता गया। क्रांतिवादी जब से आये, तब से समाजवादी क्रान्तिवादी भी, अगर हम साम्यवादियों को छोड़ दें, तो यह मानते आये कि आज का लोकतन्त्र प्रत्यक्ष क्रान्ति का साधन नहीं हो सकता। यह विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा। आज हम एक ऐसे मुकाम पर पहुँच गये हैं कि क्रान्ति का प्रत्यक्ष साधन भले ही आज का लोकतन्त्र न हो सकता हो, क्या वह क्रांति में सहायक हो सकता है? क्या हम लोकतन्त्र को इस तरह से परिवर्तित कर सकते हैं, बदल सकते हैं कि क्रान्ति के लिए वह सहायक हो जाय? इसका विचार काफी दिनों से देश में हो रहा है। गांधीजी जब थे, तब भी वह इसका विचार करते रहे। डॉ० कुमारप्पा ने एक बात कही थी* कि सत्ता की स्पर्द्धा अहिंसक समाज-रचना के लिए अनुकूल नहीं है। आप सब लोग यह जानते हैं कि आर्थिक क्षेत्र में से हम स्पर्द्धा का निराकरण करना चाहते हैं। हर दिन लोकतन्त्र की मार्फत आज हमारा जो कदम बढ़ रहा है, आज जो आमदनियों में विषमता है, उसको कम करना चाहते हैं, टैक्सेशन से करना चाहते हैं; लेकिन कम करना चाहते हैं। हमारी कोशिश यह है कि आर्थिक क्षेत्र में स्पर्द्धा न रहे, होड़ न रहे। किसी तरह की चढ़ा-ऊपरी न रहे। एक तरफ से आर्थिक क्षेत्र में से स्पर्द्धा का निराकरण करने की कोशिश हो और दूसरी तरफ राजनैतिक क्षेत्र में जिस लोकतन्त्र का आधार ही सत्ता की स्पर्द्धा है, उसकी सहायता हम लेते रहें, उसको समाज-परिवर्तन का हम साधन समझें, यह कुछ असंगत-सा मालूम होता है।

एक बात और। जन-सम्पर्क जब हम करना चाहते हैं और जन-शक्ति का विकास करना चाहते हैं, तो जनता के साथ हमारा जो सम्पर्क-बिन्दु हो या जिसे "प्वाइंट ऑफ कंटैक्स" कहते हैं—वह सम्पर्क-बिन्दु सत्ता नहीं, सेवा ही होनी चाहिए। अगर सत्ता सम्पर्क-बिन्दु हुआ, तो जन-शक्ति का जिस प्रकार से हम विकास करना चाहते हैं, उस प्रकार से वह नहीं हो सकता। इस प्रस्ताव में यह दृष्टि कहीं नहीं है कि हमको आज की राजनीति का बहिष्कार करना है। यह बहिष्कार का प्रस्ताव नहीं है, यह असहयोग का भी प्रस्ताव नहीं है। १९२१ में गांधीजी ने बहिष्कार का प्रस्ताव किया। उसमें असहयोग था। इसमें असहयोग नहीं है, इसमें बहिष्कार नहीं है, एक तटस्थ वृत्ति है, लेकिन यह बहुत जागरूक, सावधान और सहायक तटस्थ वृत्ति है। आज का जो लोकतन्त्र है, उस लोकतन्त्र की बुनियादों को आज की अपेक्षा अधिक पुख्ता करने की यह नीति है।

मेरा अपना यह निदान है कि आज लोकतंत्र दुनिया में एक ऐसी अवस्था पर पहुँच गया है, जहाँ वह आज की पक्षनीति से आगे कदम नहीं बढ़ा सकता। आज जिस तरह के पक्ष बने हुए हैं, इस पक्षनिष्ठा की मार्फत और इसके बल पर अब जनतंत्र का कदम दुनिया में आगे नहीं बढ़ सकता। मैंने देखा कि काँग्रेस एक संस्था जैसी है और आज वह कोई लोकप्रिय संस्था नहीं है। यह मैं बहुत जिम्मेवारी के साथ कह सकता हूँ। चुनाव में वह जीत जाती है, यह उसकी लोकप्रियता का द्योतक नहीं है। एक दिन आ सकता है कि जब काँग्रेस चुनाव में भी जीतेगी, वह ऑफिस में होगी, लेकिन पॉवर में नहीं होगी। सत्ता उसके हाथ में बिल्कुल नहीं रह जायगी। वह दिन बहुत नजदीक आ रहा है। आज हमारे जैसे अहिंसा में विश्वास करने वाले और हममें से कुछ ऐसे भी हैं कि वे शान्ति की स्थापना के लिए शायद अपने प्राण भी दे देने में नहीं हिचकेंगे, वे लोग भी कुछ असहायता का अनुभव कर रहे हैं। एक तरफ गुंडे का डंडा है, दूसरी ओर सरकार की फौज और सेना की गोली है। दोनों के बीच में नागरिकता पिस रही है। नागरिक जीवन जहाँ फंक्शन नहीं करता, साधारण नागरिक जीवन जहाँ फंक्शन नहीं करता, क्रियाशील नहीं होता, वहाँ कोई भी जनतंत्र किसी भी प्रकार पनप नहीं सकता। यह तो एक भयानक परिस्थिति है। इसको देख कर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इस देश में काँग्रेस के मुकाबले दूसरी कोई पार्टी पनप नहीं सकती या बन नहीं सकती। इसका मुख्य कारण यह है कि आज की पक्षनिष्ठ लोकशाही के दिन भी अब बीत रहे हैं। शायद लोकतंत्र अब कुछ नयी बुनियादों पर रखा जायगा, तभी वह आगे बढ़ सकेगा। चूँकि यह एक आशाप्रद परिस्थिति पैदा हुई है कि तानाशाही दुनिया में से खतम हो रही है। यह जो स्टालिन-प्रकरण रूस में हुआ, उसको मैं इसका द्योतक मानता हूँ। जिस तरह से साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद दुनिया में से समाप्त हो रहा है, उसी तरह से "डिक्टेटरशिप ऑफ दि प्रोलेटेरियन"—एक वर्ग की तानाशाही का जमाना भी अब बीत रहा है। मैं इसको एक नया प्रकाश-बिन्दु मानता हूँ कि अब दुनिया में से तानाशाही भी खतम हो रही है।

तानाशाही खतम हो जाय और लोकशाही में जन-शक्ति के निर्माण का माद्दा पैदा न हो, तो लोकशाही को कदम रखने के लिए दुनिया में चप्पा भर जमीन भी रहने वाली नहीं है। इसलिए सर्व-सेवा-संघ इस नतीजे पर पहुँचा है कि हमको चुनाव के मामले में तटस्थ रहना चाहिए, सावधान

*देखिये "भूदान-यज्ञ," ता. १६-११-'५६

www.vinoba.in

रहना चाहिए और जनशक्ति के निर्माण में जो प्रगति हम कर रहे हैं, उसमें से दूसरी तरफ अपना ध्यान नहीं बँटने देना चाहिए। जो लोग आज सत्ता की राजनीति में हैं, उनकी तरफ से इसमें किसी प्रकार का हर्ज नहीं है, कोई पावित्र्यवाद नहीं है। यह नहीं माना गया है कि जो लोग वह काम कर रहे हैं, वे घटिया हैं और हम लोग कुछ उनसे बढ़कर हैं, अधिक पवित्र हैं। इसमें पलायनवाद भी नहीं है। यह नहीं है कि सत्ता की राजनीति में से भागकर कुछ अलग रह जाना चाहते हैं, जिसमें हमारे चरित्र पर, हमारे व्यक्तित्व पर किसी प्रकार के छींटे न लगें। इसमें यह भी कोई वृत्ति नहीं है। एकमात्र विचार इसके पीछे यह है कि अगर विधायक जनशक्ति का निर्माण हमको करना है और आज का जो लोकतन्त्र है, उस लोकतंत्र के पीछे लोक-शक्ति के अधिष्ठान को उपस्थित कर देना है, तो इसके सिवा दूसरी कोई नीति सर्व-सेवा-संघ को इस वक्त उचित मालूम नहीं हुई।

(शेष आगामी अंक में)

अंग्रेजी का भयावह भ्रमजाल !

(विनोबा)

जीवन के हर हिस्से में विज्ञान की जरूरत है, परंतु अंग्रेजी का ज्ञान सबको प्राप्त नहीं था, इसलिए करोड़ों लोगों को विज्ञान का ज्ञान तब नहीं मिलता था। पर आज भी विज्ञान के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक ही माना जाता है और सौ साल के बाद अब चिल्ला रहे हैं कि मातृभाषा में विज्ञान कम है ! तो यह अपराध किसका है ? क्या उन मातृभाषाओं का या योजना करने वालों का ? कहा यही जा रहा है कि बिना इंग्लिश के विज्ञान कैसे सीख सकते हैं ! सवाल ठीक है। आज की हालत में ऊँचा विज्ञान सीखना है, तो अंग्रेजी, फ्रेंच या जर्मन के जरिये ही सीख सकते हैं !

परंतु उन भाषाओं के जरिये विज्ञान हिंदुस्तान में नहीं फैलेगा और अगर इसके आगे विज्ञान का संबंध मातृभाषा से नहीं आयेगा, तो विज्ञान सिखाने वालों के दिमागों में ही वह खतम हो जायेगा ! बड़ी भारी विचार की गलती हम कर रहे हैं ! हम नहीं सोच रहे हैं कि विज्ञान जैसी महत्त्व की चीज मातृभाषा में न हो, तो वह फैलेगी कैसे ?

विज्ञान की बात छोड़ दीजिये, वह तो अभी पश्चिमसे आया है; परंतु आत्मज्ञान तो अपने देश की चीज है ! पुराने जमाने से देश में वह चीज थी। संस्कृत देश की भाषा है। हजारों संस्कृत शब्द दूसरी भाषाओं में हैं और संस्कृत भी अंग्रेजी जैसी दूर की भाषा नहीं है। लेकिन फिर भी आत्मज्ञान का सारा साहित्य संस्कृत में ही पड़ा रहता और मातृभाषा में न आता, तो क्या उसका प्रचार इतना फैलता, जितना कि आज फैला है ? उपनिषदों में ऊँचा आत्मज्ञान है, षड्दर्शन में ऊँचा दर्शन है। जो ऊँचे ज्ञान का चिंतन करना चाहते हैं, वे संस्कृत का अध्ययन कर सकते हैं। उच्च ज्ञान में खोज करनी है, तो संस्कृत जरूर सीखें। लेकिन आत्मज्ञान के उपयोग और फैलाव के लिए अगर संस्कृत का ही आश्रय कोई लेता है, तो उसका फैलाव कैसे होगा ? एक चीज की खोज करना एक बात है, उसका उपयोग दूसरी बात है और प्रचार तीसरी बात है। आत्मज्ञान के उपयोग के लिए और प्रचार के लिए सारा आत्मज्ञान हम मातृभाषा में लाये हैं। वैसा ही हमें विज्ञान में भी करना चाहिए।

ऊँचे विज्ञान की 'खोज' अगर करनी है, तो अंग्रेजी, फ्रेंच आदि भाषाएँ सीखनी होंगी, परंतु विज्ञान के 'उपयोग' और 'फैलाव' के लिए मातृभाषा के बिना गति नहीं। खोज और उपयोग का फर्क हम समझ सकते हैं। रेडियो की खोज एक बात है और रेडियो का उपयोग दूसरी। रेडियो का उपयोग सब लोग कर सकते हैं, उसकी खोज बहुत थोड़े लोगों ने की है। बिजली का उपयोग घर-घर में लोग करते हैं, बटन दबाते हैं और प्रकाश सबको मिलता है। बिजली की खोज बड़े लोगों की बात है। जिन्हें खोज करनी है, उन्हें मातृभाषा के अलावा दूसरी भाषाएँ सीखनी होंगी और उन भाषाओं की खूबियों को मातृभाषा में लाकर ज्ञान भी बढ़ाना होगा। परंतु उसका देश भर में उपयोग हो, फैलाव हो, इसके लिए मातृभाषा ही चाहिए।

आज भी कोशिश हो रही है कि अंग्रेजी का ऊँचा ज्ञान बच्चों को किस तरह हो ! इसका एक ही उपाय है। बहुत सारे लोगों पर अंग्रेजी न लादी जाय, तभी चंद लोग अच्छी अंग्रेजी सीखेंगे। लेकिन बहुत लोग अंग्रेजी सीखेंगे, तो अंग्रेजी का स्टैंडर्ड नहीं रहेगा। इसलिए इसमें कोई लाभ नहीं है। अंग्रेजी सीखना चंद लोगों का काम है। उसके लिए लाखों लोगों पर वह क्यों लादी जाय ? बचपन से, नीचे के स्टैंडर्ड से, सभी बच्चों को अंग्रेजी सिखाने की बात वे सोच रहे हैं। * यह तीसरी बात जरा दबी जबान से बोल रहे हैं, क्योंकि बोलने वाले भी जानते हैं कि उसमें गलती है ! सब लोगों पर अंग्रेजी लादना ही एक गलती है। अंग्रेजी की जरूरत नहीं है, तो भी वह रखते हैं, यह दूसरी गलती है। उसका नाहक बोझ होगा, जो तीसरी गलती है। वह बोझ मनुष्य तो फेंक ही देगा।

बिलकुल छोटी उम्र से, बचपन से अंग्रेजी सिखायेंगे, तो बचपन से ही अच्छी अंग्रेजी बोल सकेंगे, यह खयाल भी गलत है। जहाँ समाज की आबहवा अंग्रेजी है, वहाँ बचपन से अंग्रेजी सिखायी जा सकती है। लेकिन जब तक व्याकरण के जरिये भाषा सिखाने का क्रम है, तबतक मातृभाषा के व्याकरण और साहित्य की अच्छी जानकारी हुए बिना दूसरी भाषाओं का ज्ञान नहीं हो सकता। मातृभाषा का व्याकरण और साहित्य न जानने वाला दूसरी भाषाओं का व्याकरण और साहित्य कैसे सीखेगा ? इसलिए अंग्रेजी माध्यम से शिक्षण देना तो सौ प्रतिशत मूर्खता है ! अंग्रेजी माध्यम से शिक्षण दें, तो ज्ञान बढ़ सकता है, ऐसा भी मानते हैं। अंग्रेजी 'भाषा' में ऐसी कौनसी चीज है, जो ज्ञान देने लायक है ?

बहुतों का यह भी खयाल है कि अन्य देशों के साथ राजनैतिक ताल्लुक रखना है, तो अंग्रेजी आनी चाहिए। हम इसे भी एक भ्रम समझते हैं। परदेश के साथ राजनैतिक ताल्लुक रखना है, तो अपने देश को मजबूत बनाये बगैर हम कुछ नहीं कर सकते। अपने देश को राजनैतिक आजादी मिली है, पर आर्थिक आजादी मिले बगैर देश नहीं बचेगा। बल्कि परदेशवालों के साथ उनकी भाषा में बोलने की तैयारी रखना याने खुद को आग लगाना ही है। तब हमारे लोगों की बुद्धिमत्ता का हम उपयोग नहीं कर सकेंगे। हाँ, अंग्रेजी में अच्छी तरह बोल सकने वाले अच्छे तोते बन सकते हैं, परंतु अच्छे चिंतन करने वाले नहीं बन सकते। इसलिए ऐसे लोगों से हमारा काम नहीं बनेगा। परंतु मान लीजिये कि अपने देश में कोई चाणक्य है, परंतु उसे अंग्रेजी का ज्ञान नहीं है, तो उसकी अकल का लाभ हमें नहीं मिलेगा। इसके बदले में होना यह चाहिए कि यूनो में जाने वाले हमारे प्रतिनिधि हिंदी भाषा में वहाँ पर बोलें। आज ऐसा नहीं हो रहा है, तो अपने देश के लिए यह लाभदायक परिस्थिति भी नहीं है। हम 'यूनो' में अंग्रेजी में बोलते हैं, तो हमें प्रतिष्ठा मिलती है, यह भी एक गलत खयाल है।

भारत सरकार का कुल कारोबार भी अंग्रेजी में चलता है। परिणाम क्या होता है ? आपके देश का कारोबार किस तरह चलता है, यह अमेरिका और इंग्लैंड के लोग घर में बैठे-बैठे जान सकते हैं और आपके ही देश का किसान वह नहीं जानता है ! इसमें दो बातें होती हैं : (१) अपने देश का कारोबार दूसरों के सामने ऐसा खुला रखना एक गलती है और अपने ही किसानों से छिपाना यह सरासर गलती है। अपने देश का कारोबार दूसरे लोगों के सामने खुला रखना, यह मूर्खता है। पॉलीटिक्स में जो लोग हैं, कम से कम वे इसे अवश्य कबूल करेंगे। मेरी बात दूसरी है। मैं अहिंसा में मानने वाला हूँ। मेरी चीज खुली रहती है, तो मैं उसमें कुछ गलत नहीं मानूँगा। लेकिन राजनीतिवाले तो यह बात कबूल करेंगे ही कि दूसरे के सामने अपनी चीज खुली नहीं होनी चाहिए। पॉलीटिक्स में तो 'ओथ ऑफ सिक्रसी' (गुप्तता की शपथ) देते हैं। उन्हें गुप्तता की आवश्यकता मालूम होती है। उनकी दृष्टि से, उनके खयाल से देश का कारोबार दूसरों के सामने खोल कर रखना गलत ही है और अपने ही लोगों से छिपाना, यह तो बहुत ही बड़ी गलती है। दो गलतियाँ एक ही साथ आपने कर डालीं ! हमें आश्चर्य होता है कि ऐसी सीधी-सादी बात कैसे समझ में नहीं आती है !

(शिक्षक और शिक्षिकाओं के बीच, मानापराई, त्रिची, १२-१-५७)

---

* "सेंट्रल अैडवायज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन" की, ता० १६-१७ जनवरी को नयी देहली में हुई मीटिंग में भारत के शिक्षा-मंत्री मौलाना आज़ाद साहब ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि राष्ट्रीय हित यह माँग करता है कि हर एक छात्र सेकंडरी स्टेज (माध्यमिक स्तर) में तीन भाषाओं का–एक प्रदेश भाषा, दूसरी हिंदी और तीसरी अंग्रेजी का–अध्ययन अनिवार्य रूप से करे।

बोर्ड ने भी भारत सरकार से यही सिफ़ारिश की है कि राष्ट्रीय नीति के तौर पर इन तीनों भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य कर दिया जाय। जहाँ प्रदेश-भाषा हिंदी ही हो, वहाँ कोई दूसरी प्रादेशिक भाषा रहेगी। बोर्ड ने यह भी कहा कि देहली, पंजाब, सौराष्ट्र और भोपाल राज्यों को छोड़ कर सारा देश इसके लिए सहमत है। (हिंदुस्तान टाइम्स, १७-१८ जनवरी)

www.vinoba.in

भूदान-यज्ञ

२५ जनवरी सन् १९५७

क्रांती का अैसा सस्ता सौदा !

(वीनोबा)

अहिंसाअी, अीस्लाम, हींदू; य़े सब धर्म कह रहे हैं की मालकीयत गलत है, जमीन की नीजी मालकीयत हो ही नहीं सकती। 'कम्यूनीस्ट' और 'कम्यूनीज़्म' शब्द से भी कुछ लोग डरते हैं और कहते हैं, य़े लोग नास्तीक हैं। लेकीन 'कम्यूनीस्ट' और 'कम्यूनीज़्म,' य़े शब्द ही बाअीबल से नीकले हैं। आज हम दो अहिंसाअी संन्यासी मील। अुनकी छाती पर अेक चीह्न था। अुसमें क्रॉस भी था और ॐ भी ! वास्तव में अहिंसा के शीष्य 'प्रायवेट प्रॉपरटी' (आनगी मील्कीयत) नहीं रखते थे। अुनका अेक 'कम्यून' (संगठन) रहता था और सारे मील कर रहते थे, अैसा वर्णन बाअीबल में आता है। अुसी पर से 'कम्यूनीज़्म' शब्द नीकला है। क़ुरान में भी कहा है की जमीन परमेश्वर की है और अुसका लाभ सबको मीलना चाहीअे। यही बात वेद-भगवान् कह रहा है। पृथ्वी माता सबकी है। "माता भूमी पुत्रोऽहम् पृथीव्याः—पृथ्वी माता है, हम अुसके पुत्र हैं।" अीस वास्ते पुत्र का अधीकार है की वह मां की सेवा करे। अुसका अधीकार भी है और कर्तव्य भी है। अीस तरह कुल धर्म अीस मसले पर अेक है। ज़माना भी अैसा आ रहा है की सब देशों में जमीन की मालकीयत टूट रही है। जगह-जगह अुसके लीअे हींसा ही हो रही है। अब आप सोचीये की जीस काम के लीअे ज़माने के अच्छे-अच्छे पुरुष अपना अनुकूल मत दे रहे हैं, तो अुस काम का वीरोध करके क्या लाभ मीलेगा ? कब तक आप वीरोध करेंगे ? अुससे क्या कल्याण सधेगा ?

श्रद्धेमान् लोगों की आज कैसी बुरी हालत है ! 'डेथ ड्यूटी' (मृत्यु-कर) में क्या होता है ? कब मरेगा, यह राह देखते हैं। तो क्या अीतनी भी अक़ल नहीं होनी चाहीअे की मरने के बाद कोअी लूटे, अुसके बदले जीते ही कुछ दान दे दें ? बाबा अीन लोगों को तो बचा रहा है ! क्रांती का अीससे अधीक सस्ता सौदा कौनसा हो सकता है ? अीसमें करना भी क्या है ? गांव के लीअे अपनी जमीन दे देना और प्रसाद के तौर पर जीतनी हीस्से में मीलेगी, अुतनी वापस लेना। तब सबका सहयोग मीलेगा, गांव तुम्हारा बनेगा, तुम गांव के प्यारे नेता बनोगे और हींदुस्तान में शांतीमय क्रांती होगी। दुनीया में और कहीं अीतना सस्ता क्रांती का सौदा नहीं हुआ है ! जैसे गांधीजी ने स्वराज्य का सस्ता सौदा कीया, वैसे बाबा भी ज़मीन का सस्ता सौदा बता रहा है।

कुलीतलै, त्रीचि, १५-१-५७

भूदान-समितियों के विसर्जन के बाद !

(विनोबा)

पाँच साल और नौ महीने से भूदान-यात्रा चल रही है। आरंभ में भूदान-समितियाँ नहीं बनी थीं। हमारी यात्रा चलती थी और लोग साथ देते थे। फिर भूदान-समितियाँ बनीं। सारे देश में उनकी मार्फत हजारों कार्यकर्ताओं ने काम किया। करोड़ों लोगों के पास पहुँचे। लाखों दानपत्र हासिल किये। अब हमने फिर से भूदान-समितियाँ तोड़ी हैं। जहाँ से आरंभ किया था, वहीं हम पहुँच गये हैं ! तभी तो परिपूर्णता होती है। जहाँ से निकले, वहीं जब पहुँचते हैं, तब परिपूर्ण गोल हो जाता है ! फिर से भूदान-समितियाँ खतम होती हैं, तो पहली अवस्था प्राप्त होती है। फर्क इतना ही हुआ कि आरंभ में एक ही शख्स स्वतंत्र रीति से काम करता था, अब हजारों लोग स्वतंत्र रीति से काम करेंगे। बीच में भूदान-समितियों से भी काम बढ़ने में कुछ मदद मिली। अगर हम उन्हें कायम रखते, तो इससे आगे काम बढ़ता, लेकिन गति तीव्र नहीं होती, सीमा आ जाती। जिस गति से काम चलता था, उसीसे आगे चलता। परंतु इसमें अपेक्षा तो भूमिक्रांति की है। भूमिदान से आरंभ हुआ है, भूमिक्रांति में हम समाप्त करना चाहते हैं।

भूमिक्रांति याने क्या ? सब लोग समझें कि जैसे हवा, पानी और सूरज की रोशनी है, वैसे भूमि भी सबके लिए है। भूमि पर व्यक्तिगत मालकियत का कोई दावा नहीं करना चाहिए, वह समाज के उपयोग की चीज होनी चाहिए। प्रेम-पूर्वक अपना स्वामित्व हम विसर्जन करें, गाँव में जमीन बाँट दें। जो बे-जमीन हैं, उन्हें भी जमीन मिलेगी और जिनके पास ज्यादा जमीन है, उन्हें भी थोड़ी जमीन मिलेगी। जैसे नदी समुद्र में लीन होती है, वैसे व्यक्तिगत मालकियत सामाजिक मालकियत में लीन हो जाय और जैसे नदी समुद्र में प्रेमपूर्वक प्रवेश करती है, उस प्रवेश के लिए उसके दिल में उमंग होती है, उसे समुद्र का भय नहीं मालूम होता और समुद्र के प्रवेश में वह अपने जीवन को सार्थक मानती है, वैसे ही होना चाहिए। अभी तक जिन मालिकों ने अच्छी तरह जमीन की काश्त की, उसे सुधारा, वे अगर जमीन को अर्पण करते हैं, तो जमीन पर उन्होंने जो प्रयत्न किया, वह कृतकार्य हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि अभी तक जमीन को व्यक्तिगत तौर पर अच्छी रखने का जो प्रयत्न किया, वह परिपूर्ण और सार्थक हो गया। उनकी बुद्धि का उपयोग भी वे इसके आगे समूह को दें। अभी तक जमीन पर व्यक्तिगत मालकियत थी, अब जमीन सारे गाँव की मालकियत की होगी।

गाँव-गाँव में मालिक और मजदूरों के संबंध पिता-पुत्र की तरह हार्दिक हैं। लड़का बड़ा हो गया। छोटा था, तब पिता सम्हालते थे, उसकी चिंता करते थे। सब जिम्मेवारी खुद उठाते थे। अब लड़का बड़ा होकर हिस्सा माँगता है, तो प्रेम से वह उसे दिया, तो क्या बिगड़ेगा ? अभी तक बाप के हाथ में जमीन थी, अब बेटे के हाथ में आयी। अब बेटा पिता का भी पालन करेगा। प्रेम से यह होगा, तो ऐसा सहज देखा जायेगा। उसमें बाप की बुद्धि बेटे के मदद में आती है और बेटे की ताकत बाप की मदद में। काश्त कौन करते हैं ? मजदूर ही करते हैं। अकल कौन चलाता है ? बाप चलाता है। अकल एक बात है, परिश्रम दूसरी बात है। दोनों अलग रहेंगे, तो दोनों का बल क्षीण होगा। अकल के साथ परिश्रम जुड़ना चाहिए ! परिश्रम के साथ अकल जुड़नी चाहिए। दोनों का मिलन होना चाहिए। इसलिए जहाँ दोनों का झगड़ा होता है, वहाँ दोनों का नुकसान होता है और देश का तो नुकसान होता ही है। समाज के हित के लिए समाज की ताकतें इकट्ठी ही होनी चाहिए। आज जिस हालत में समाज है, उसे कायम रखते हुए शांति कभी नहीं होगी। उधर ५०-६० साल पहले टॉलस्टॉय ने, इधर ४० साल पहले कवि भारतीयार ने यही लिख रखा है कि जमीन की निजी मालकियत नहीं होनी चाहिए। 'कुरल' यही सीख देता है। तो, महापुरुषों के मुख से निकली हुई बात पर अमल किये बिना समाज टिक नहीं सकता। भारतीयार इस जमाने के, तो 'कुरल' उस जमाने का। भारतीयार इस देश के, तो टॉलस्टॉय उस देश का। मतलब कि सब देश वाले और सब काल वाले महापुरुष इस बात को महत्त्व देते हैं। एशिया में जमीन की समस्या हल हो रही है, तो क्या भारत में हल हुए बिना रहेगी ? इसलिए वह अकलवाला माना जायगा, जो अपनी मालकियत समाज को खुद अर्पण करेगा। वह कुछ खोयेगा नहीं, बल्कि प्रेम ही पायेगा।

(कुलीतलै, त्रिची, १५-१-'५७)

www.vinoba.in

नव युग का नवोल्लास !

(शंकरराव देव)

आज मनुष्य की जिंदगी दो हिस्सों में बँट गयी है और हमारा पारमार्थिक जीवनकार्य इस लोक के जीवनकार्य से सर्वदा भिन्न है, यह हम मान बैठे हैं। इसीलिए दुनिया में हिंसा, द्वेष आदि बढ़ते गये। पर यह संघर्ष अब इतना अधिक बढ़ गया है कि सर्वसाधारण लोगों के लिए सोचने की बात हो गयी है कि इस राह पर यदि हम बढ़ते ही जायँ, तो पारमाथिक तो खैर छोड़ ही दीजिये, दुनियवी जिंदगी भी सुख-शांति से बिता सकेंगे या नहीं ? सामान्य बुद्धि भी अब यह समझने लगी है कि जो विनाश आज मुँह बाये खड़ा है, उसको देखते हुए हिंसा और द्वेष से अब काम नहीं चल सकता। इसलिए वह ऐसा रास्ता ढूँढ़ना चाहती है, जो उसे सुख की जिंदगी का भरोसा दिला सके। वह रास्ता तो पारमार्थिक ही है, याने अहिंसा और प्रेम ही अब मानव-जाति को स्वीकार करने होंगे। पर वह रास्ता अब तक जो केवल पारमार्थिक उपयोग का ही समझते थे, वही समझ अब हमें बदलनी होगी। परमार्थ के लिए ही जिन परम गुणों की उपासना आज तक मानव करता और मानता आया है, उन गुणों की उपासना अब इहलौकिक जीवन के लिए करनी ही होगी और सर्वसाधारण मनुष्यों के नित्य के व्यवहार के लिए ये गुण उपयोग के नहीं हैं, यह मान्यता अब हटानी होगी। गांधीजी ने पहली बार दुनिया को बताया कि परमार्थ और स्वार्थ को भिन्न मान कर मनुष्य उस अलग-अलग राह पर चले, तो दोनों ही नहीं सध सकते। परमार्थ और स्वार्थ के रास्ते तो एक ही हैं। माना जाता था कि मनुष्य में जैसे स्वार्थ-बुद्धि है, वैसे परमार्थ-बुद्धि भी है, लेकिन वह इतनी क्षीण है कि उस पर हमारे जीवन की बुनियाद नहीं खड़ी हो सकती। गांधीजी ने कहा, जिसे आप क्षीण समझते हैं, वही तो मनुष्य का विकास-धर्म है !

वस्तुतः इन गुणों को "दैवी गुण-संपत्ति" के बजाय "मानवीय गुण-संपत्ति" कहा जाता, तो जीवन के ऐसे टुकड़े नहीं पड़ते, क्योंकि अहिंसा सत्यादि 'दैवी' हैं, देवों के लिए सुरक्षित हैं, यह मान कर साधारण मानव उससे अपने को अलग कर लेता रहा है अथवा पारलौकिक लक्ष्यों के साथ उसे जोड़ देता है। संतों ने यद्यपि यह सीख दी कि ये गुण मानव की उपासना के लिए ही हैं, लेकिन वे भी उसका संबंध तो पारलौकिक लक्ष्य के साथ ही जोड़ देते आये। गांधीजी ने बताया कि वे गुण न केवल पारमार्थिक जीवन के लिए हैं, इहलौकिक जीवन के लिए भी हैं; अन्यथा उनका इतना विकास हो ही नहीं सकता था। इसलिए दैनिक जीवन के साथ यदि हम उस दैवी संपत्ति को जोड़ देते हैं और पुरुषार्थपूर्वक उसे आगे बढ़ाते हैं, तो उनका विकास बड़े पैमाने पर हो सकता है।

भारत की उस समय की एक खास आवश्यकता, राजनीतिक आज़ादी के साथ उन्होंने इसे जोड़ भी दिया। इस तरह जैसे एक चिनगारी से बड़ा प्रकाश फैल सकता है, वैसे ही अगर इस भावना को हम अपने जीवन से तेजस्वी बनाते हैं, तो वह सबके जीवन को ही परिवर्तित कर सकती है। सवाल उसको श्रद्धापूर्वक आवाहन करने का है।

गांधीजी के जाने के बाद हम सत्ता के रास्ते आगे बढ़े। कुछ हद तक तो कहना होगा कि गांधीजी का जो प्रयास था, उसमें नैतिकता, अहिंसा आदि थी, पर उसका लक्ष्य था—सत्ता की प्राप्ति। आज हम इतने सत्ता-भिलाषी हैं, इसका कारण हमारी आज़ादी की लडाई भी थी, जो यद्यपि सत्य और अहिंसा से हम लड़े, लेकिन उसका लक्ष्य सत्ता था, स्वराज्य था। पर उसके लिए रचनात्मक कार्यक्रम गांधीजी ने बताया और कहा कि इसीका नतीजा स्वराज्य के रूप में मिलेगा। इस तरह रचनात्मक काम लड़ाई की ताक़त का साधन बना। गांधीजी यह मानते थे कि विधायक कार्यक्रम में से ही आजादी पैदा होगी। लेकिन गांधीजी की यह दृष्टि हमने मानी नहीं, न आज उसे मान कर हम चल रहे हैं। आज भूदान के कारण लोकशक्ति का एक महान् दर्शन, जो बड़ा ताक़तवर, नूतन और श्रद्धा बढ़ाने वाला है, हम देख रहे हैं, पर उस रचनात्मक कार्यक्रम में भी जनशक्ति पैदा करने की ताक़त थी। जो ताक़त हमने खादी, अस्पृश्यता-निवारण आदि के द्वारा प्राप्त की, वह भी एक जनशक्ति ही थी, क्योंकि हमारे दोषों का निराकरण हम अपनी ही ताक़त से करते थे। वैसे तो तिलक की चतुःसूत्री से जनशक्ति का प्रारंभ होता है और उस चतुःसूत्री का विकास ही गांधीजी ने रचनात्मक कार्यक्रम के रूप में किया है।

लेकिन इन सबके होते हुए भी हमारा लक्ष्य राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति था। इसलिए जब वह सत्ता हमने हाथ में ली, तो हमको लगा कि सत्ता के जरिये ही सब कुछ हो सकता है और वह करना चाहिए। असमंजस में तीन-चार साल हमारे गये। फिर विनोबाजी आये और गांधीजी के बाद जहाँ से सिलसिला टूटा था, उन्होंने वह जोड़ दिया और गांधीजी का ही सिद्धांत अपने ढंग से आगे बढ़ाया, जिस पर आर्थिक समता का यह आंदोलन खड़ा है। वह सिद्धांत एक ही था कि मनुष्य में जो सत्प्रवृत्ति, जो भलापन और दूसरों के लिए स्नेह है, उसीको आवाहन करके हम आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ हल करें। भूदान इस तरह गांधीजी की राह पर आगे बढ़ा और आज दुनिया को एक नयी आशा की किरणें इसमें दिखायी दे रही हैं। इसीमें समस्या का हल दीख रहा है। जो नया रास्ता वह चाहती है, वह इसमें उसे दिखायी दे रहा है। यह रास्ता मोक्ष का, मुक्ति का या पारमार्थिक नहीं है, रोजमर्रा की समस्याओं को हल करने का ही है। जितना यह काम भारत में बनेगा, उतना दुनिया पर असर होगा। तलवार से काम नहीं हो सकता, यह तो उसने अभी फिर दो महीनों की घटनाओं के प्रकाश में देख ही लिया, लेकिन उससे भिन्न किसी दूसरे रास्ते के लिए उसमें अभी श्रद्धा नहीं है। उस पर अभी उसको भरोसा नहीं हो रहा है। परंतु मनुष्य में इतने बड़े पैमाने पर प्रेम के द्वारा परिवर्तन हो सकता है कि वह स्वार्थों के संघर्ष से मुक्त होकर शांतिपूर्वक रह सकता है। उसके लिए संसार छोड़ने की जरूरत नहीं। सिर्फ स्वार्थ को व्यापक करने की बात है, जिससे कि दो स्वार्थों के बीच का संघर्ष नष्ट हो जाय। दुनिया का बचाव इसीमें है। अब हमारे व्यापक परिवार-जीवन का आधार खून का संबंध नहीं, मानवता का होगा। यह हमारा पहला सबक है, इसलिए हम गाँव को परिवार मानने की बात कहते हैं। इस रूप में परिवार-भावना का विकास हो जाने पर निजी मालकियत की बात ही समाप्त हो जाती है।

इन पाँच सालों में भूदान-यज्ञ के कारण हम ग्रामराज का दर्शन करने जा रहे हैं, जो अब तक हवाई चीज़ लगती थी ! गांधीजी की "ग्रामराज" की, "A village must be independent Republic." की बात पर लोग हँसते थे और इसे एक यूटोपिया समझते थे। वे ही आज देख रहे हैं कि यह कोई हवाई चीज नहीं रही। आज छोटा बच्चा भी कहता है कि हमें ग्रामराज चाहिए ! लोग अब इसे पागलों की बात न कह कर इसकी संभावना कबूल करते हैं।

हमने देखा कि इसने सारे जीवन की भूमिका भी बदल दी है। केवल भूमिदान ही नहीं, श्रमदान, संपत्तिदान, बुद्धिदान के रूप में पाँच साल में जैसे चमत्कार-सा हो रहा है। लेकिन चमत्कार भी क्यों कहें ? एक स्वाभाविक ही चीज़ यह थी, जो अब तक मनुष्य के हृदय के तल में दबी हुई थी, श्रद्धा के अभाव में उसका आवाहन नहीं हो रहा था। आज हम स्कूल-कॉलेज से छोड़ने का आवाहन विद्यार्थियों को कर रहे हैं। कुछ दिनों में हम देखेंगे कि ऐसी हवा बन जायगी कि ऐसे विशिष्ट आवाहन की भी जरूरत नहीं पड़ेगी और उन्हें इसमें आना ही होगा, क्योंकि सारी दुनिया की परिस्थिति ही ऐसी है। दो साल के पहले जब विनोबा ने कहा था कि दुनिया में यह चीज़ होने वाली है, सर्वोदय आने वाला है, तो हम लोगों को लगता था, "ठीक है, पागल कहता है, कहने दो। कहीं आदमी स्वार्थ भी छोड़ सकता है !" लेकिन हमारा भाग्य है कि यहाँ एक ऐसी परंपरा चली आयी कि जिसमें संत सारे जीवन को बदल देते रहे हैं। संत में जो शक्ति होती है, वह दूसरों में नहीं होती है। एक मनुष्य के संपूर्ण समर्पण का परिणाम लाखों लोगों पर होता है। परंतु अब तक पारमार्थिक जीवन की दृष्टि से यह होता रहा, गांधी और विनोबा ने इहलौकिक लक्ष्य के लिए भी उन गुणों का आविष्कार करके दिखाया। लोग कहते थे, हमारी वीरता के लिए कोई लड़ाईवाला कार्यक्रम चाहिए ! हमारे शब्द भी ऐसे ही थे—'नॉन् वायलंट' (अहिंसा), लेकिन 'वॉर' (युद्ध) ! परंतु आज हम देख रहे हैं कि उसके बिना भी यह आंदोलन आज जनआंदोलन बन रहा है, क्योंकि इसमें जो प्रेरणा है, वह अब सभीको छू रही है।

सत्ययुग के प्रारंभ का अर्थ है, जिन गुणों की, शक्ति की और श्रद्धा की उपासना पारमार्थिक लक्ष्य के लिए होती थी, वे सब अब दुनियवी लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उपयोग में आ सकते हैं। भूदान में तो देने ही देने की बात है, जब कि उस वक्त 'स्वराज्य' लेने की बात थी। फिर भी इस आंदोलन पर श्रद्धा और उत्साह लोगों में तेज़ी से पैदा हो रहा है और बढ़ रहा।*

---

* खादीग्राम में शिबिरार्थियों के बीच दिये गये भाषण से, २८-१२-'५६

www.vinoba.in

पंचामृत

रमण महर्षि के सान्निध्य में

मैं क्षिप्र गति से बड़े कमरे की ओर बढ़ा और सुविधापूर्वक दीवार के निकट बैठ गया। महर्षि मेरी ओर फिरे। उन्होंने अपनी मुख-मुद्रा ऐसी प्रदर्शित की, मानो वे मेरा अभिवादन कर रहे हों। मैंने बिना किसी झिझक के उनसे सीधा प्रश्न किया : "योगियों का कथन है कि यदि कोई सत्य का अनुसन्धान करना चाहे, तो उसे संसार के कोलाहल से पूर्णतः मुक्त होकर किसी एकान्त अरण्य में अथवा पर्वत की कन्दरा में जाकर साधना करनी चाहिए। किन्तु हमारे यहाँ पश्चिम में यह बात अत्यन्त कठिन है, क्योंकि हम लोगों के रहन-सहन की विधि सर्वथा भिन्न है। क्या आपको योगियों का यह मत मान्य है ?"

महर्षि ने मुड़ कर अपने एक विनम्र ब्राह्मण शिष्य की ओर देखा। उन्होंने जो कुछ कहा, उसका अंग्रेजी अनुवाद उसने मुझे सुनाया। महर्षि ने कहा : "कर्ममय जीवन का त्याग आवश्यक नहीं है। यदि आप प्रतिदिन घण्टे-दो-घण्टे के लिए भी चित्त एकाग्र करें, तो उसके साथ आप अपना नित्य का कार्य चलाये रख सकते हैं। चित्त की एकाग्रता और ध्यान करना यदि सही ढंग से हो, तो मन से जो एक प्रकार की भाव-धारा प्रवाहित होगी, वह आपके अन्य कार्यों के साथ ही चलती रहेगी। ऐसा समझिये कि एक ही विचार व्यक्त करने के दो तरीके हैं। जो ढर्रा आप ध्यान में चलायेंगे, वही आपके नित्य के कार्यों में भी अभिव्यक्त होगा।"

"इसका परिणाम क्या होगा ?"

"यदि आप अपने अभ्यास में लगे रहेंगे, तो आप यह अनुभव करेंगे कि लोगों की घटनाओं के अथवा सांसारिक सभी पदार्थों के प्रति आपकी वृत्ति क्रमशः बदलती जायगी। आपके कार्य और आपकी प्रवृत्तियाँ आपके ध्यान के अनुरूप अपने आप बनती चली जायेंगी।"

"तब आपको योगियों का विचार मान्य नहीं है ?"—मैंने उनसे सीधे-साधे पूछना चाहा; लेकिन महर्षि ने सीधा उत्तर नहीं दिया।

उन्होंने कहा : "संसार के बन्धन में डालने वाली स्वार्थ की प्रवृत्तियों का मनुष्य को त्याग कर देना चाहिए। मिथ्या 'अहं' का त्याग ही वास्तविक त्याग है।"

"सांसारिक कार्यों में लिप्त रहते स्वार्थ का सर्वथा त्याग किस प्रकार सम्भव है ?"

"कर्म और ज्ञान में कोई विरोध नहीं है।"

"क्या आपका खयाल यह है कि अपनी तमाम सांसारिक कार्रवाइयों में लगे रह कर भी मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है ?"

"क्यों नहीं। लेकिन वैसी हालत में साधक यह नहीं सोचेगा कि उसका वह पुराना स्वरूप ही सब कार्य कर रहा है, क्योंकि उसकी चेतना क्रमशः उस एक में केन्द्रित होती जायगी, जो इस 'स्व' से सर्वथा भिन्न और पृथक् होगी।"

"यदि कोई अपने रोज-रोज के काम में लगा रहे, तो ध्यान और चिन्तन का समय ही उसके पास कहाँ रहेगा ?"

महर्षि को मेरे प्रश्न से किसी प्रकार की घबराहट नहीं हुई। उन्होंने कहा : "चिंतन और ध्यान के लिए अलग से समय निकाल लेना प्रारम्भिक अवस्था में ही आवश्यक होता है। आगे चल कर साधक को उस अनन्त सौन्दर्य से अपने आप सुख प्राप्त होने लगेगा, चाहे वह काम करे या न करे। शरीर से वह सामाजिक (सांसारिक) जीवन व्यतीत करेगा और मन तथा चित्त से वह एक-निष्ठ होकर उस सत्य के चिंतन में रत रहेगा।"

"तब आप योग की विधि नहीं सिखाते ?"

"जैसे चरवाहा लाठी से बैल को हाँक कर ले चलता है, उसी प्रकार योगी अपने मन को निश्चित लक्ष्य की ओर ले जाता है। किन्तु इस मार्ग में यह बात अवश्य है कि साधक कभी-कभी प्रलोभन में फँस जाया करता है।"

"इसकी विधि क्या है ?"

"आपको अपने आप जिज्ञासा करनी होगी कि मैं कौन हूँ। इस प्रकार की जिज्ञासा का फल यह होगा कि आप इस बात को जान पायेंगे कि हमारे अन्दर मन से भी ऊपर कोई चीज़ है। उस ऊपरवाली चीज़ का बल लगा लीजिये। फिर आप सब कुछ जान जायेंगे।"

जब तक महर्षि के उत्तर पर विचार करता रहा, तब तक वातावरण बिल्कुल निस्तब्ध रहा। दीवार में बने जालीयुक्त चौकोर छिद्र से, जो खिड़की का काम देता था और जैसा कि प्रायः सभी भारतीय मकानों में होता है, मैं पावन गिरि के निम्न पार्श्व का मनोरम दृश्य देखता रहा।

उसी समय महर्षि ने मेरी ओर देख कर कहना आरंभ किया, "अगर इसको इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, तो और भी स्पष्ट होगा। सभी मनुष्य सर्वदा ऐसे सुख की कामना करते हैं, जिसके साथ शोक या दुख न लगा हो। वे ऐसे सुख की कामना करते हैं, जो अनन्त से हो। यह वृत्ति तो ठीक है। लेकिन क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि वे इस 'स्व' पर ही अधिक अनुरक्त हो जाते हैं।"

"तब फिर ?"

"अब इसके साथ इस बात पर भी विचार कीजिये कि वे एक-न-एक साधन से सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहते हैं, चाहे वह सांसारिक भोगों से हो या पुण्याचरण से हो। तब आपको मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का बोध हो जायगा।"

मैं कहने लगा—"मैं समझ नहीं पाया" और तभी महर्षि ने कुछ उच्च स्वर में कहा: मनुष्य की वास्तविक प्रकृति सुख-परक है। सुख की भावना उसने अन्तर्तम में सहजात है और इस प्रकार सुखानुसन्धान की उसकी वृत्ति अचेतन रूप से उसके वस्तुतत्त्व की शोध ही है। वह वस्तुतत्त्व अविनाशी है, अतः जब वह उसे प्राप्त कर लेता है, तो उसे ऐसा सुख प्राप्त हो जाता है, जो निरन्त होता है।"

"लेकिन फिर संसार में इतनी सुख-शून्यता जो व्याप्त है ?"

"अवश्य, लेकिन इसका कारण यह है कि लोग वास्तविकता से अपरिचित हैं। वैसे जान अथवा अनजान में सभी लोग इसकी शोध में रत रहते हैं।"

मैंने पूछा, "क्या शठ स्वभाव, पाशविक वृत्ति और अपराधी प्रकृति के लोग भी ?"

"निश्चय ही, वे भी जो कुछ पाप-कर्म करते हैं, वह इसीलिए कि वे आनन्द की प्राप्ति के लिए लालायित रहते हैं। वे समझते हैं कि अपने उस कृत्य से वे सुख प्राप्त कर सकेंगे। सुख की यह शोध मनुष्य में स्वभाव-जन्य है, किन्तु ये अपराधी प्रकृतिवाले लोग यह नहीं जानते कि वे जो कुछ करते हैं, उसके माध्यम से वे अपने सच्चे स्वरूप की शोध में लगे हुए हैं। यही कारण है कि वे सुख-प्राप्ति के लिए दुष्कर्म का आश्रय लेते हैं। सच बात यह है कि वे गलत मार्ग पर चलते हैं, क्योंकि मनुष्य जो कुछ करता है, उसका प्रतिफल उसके ही सिर आता है।"

"तो हमें असीम सुख की प्राप्ति तभी होगी, जब हम अपने 'सत् स्वरूप' को पहचान लेंगे ?"

महर्षि सिर हिला कर रह गये। उस खिड़की से महर्षि के मुख-मण्डल पर सूर्य की तिरछी किरणें पड़ रही थीं। उनके प्रकाश में मैंने देखा—महर्षि का पवित्रता से पूरित गम्भीर वदन, परितोष-परिवृत्त उनकी दृढ़ मुख-मुद्रा और आश्रमवत् शान्तिदायी, किन्तु तेजोमय उनके दीप्त नेत्र, उनके बली-विनिर्मुक्त मुख-मण्डल से इन दिव्य वचनों की सत्यता स्पष्ट ही प्रतिभासित हो रही थी।

मैं सोचने लगा कि इन सरल और सीधे लगने वाले शब्दों द्वारा कौनसा भाव महर्षि व्यक्त करना चाहते हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि दुभाषिये ने उनके शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद मुझे सुना दिया, किन्तु क्या इतनी-सी ही बात महर्षि कहना चाहते थे ? नहीं, अवश्य ही इनके पीछे कुछ गम्भीर आशय छिपा हुआ है। इसलिए मुझे स्वयं उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए। यह साधु पुरुष न तो किसी दार्शनिक की भाषा बोल रहा है और न किसी ऐसे पंडित की भाषा बोल रहा है, जो अपना सिद्धान्त हमारे ऊपर लादना चाहता है। वह तो अपने हृदय के भाव बहुत ही स्पष्ट भाषा में उँड़ेल रहा है।

('ए सर्च इन सीक्रेट इंडिया' से) —पॉल ब्रंण्टन

सच्ची उदारता

माता सेथिल्डे कुछ कम रूखेपन से बोली, "प्रत्यक्ष कृति में उदार होना आसान है। कृति के गवाह होते हैं। हर कोई उसे देख सकता है। हर एक के दिल पर उसका असर होता है। दुनिया में क्रियात्मक उदारता बतलाने वाला दूसरों से अलग दिखायी देता है, उसे एक तरह की कीर्ति मिलती है। लेकिन बहन, विचार की उदारता—वह मूक, अदृश्य, निरपेक्ष प्रेम, जो हमेशा दूसरों को पहला स्थान देता है और अपने आपको अन्तिम स्थान देता है, उसकी कमी आज आपको महसूस हुई है।"

('द-नन्स-टोरी' से) —— कॅथ्यून हुल्मे

www.vinoba.in

भूदान से ग्रामदान तक

…विनोबाजी को देश भर में १७०० ग्रामदान प्राप्त हो चुके हैं। प्राप्त भूमि में से बहुत कुछ का बँटवारा भूमिहीनों में हो चुका है, जो इस बात का प्रमाण है कि इस आन्दोलन ने समानता और सामाजिक न्याय की स्थापना में पूर्ण योगदान किया है। प्राप्त भूमि को, खेती करने की इच्छा रखने वालों को देते समय, उसे खेती योग्य बनाने की समस्या संपत्तिदान के रूप में जो कुछ निधि संग्रहित हुई, उसका उपयोग करके किसी अंश तक हल की गयी। परिणामस्वरूप सैंकड़ों ऐसे परिवारों को खेती करने योग्य और उसके माध्यम से जीविका चलाने योग्य बनाया जा चुका है, जिनके पास निर्वाह की कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी। इतना होने पर भी आन्दोलन के अपने साधन इतने अपर्याप्त हैं कि चालीस-चयालीस लाख एकड़ भूमि का ठीक तरह से बँटवारा करना और उसे व्यवस्थित करना बहुत सरल काम नहीं, क्योंकि उसमें कुछ जमीन अच्छी और कुछ बुरी भी है।

तो यह सरकार का काम है कि वह इस समय आगे आवे और किसानों की सहायता की जिम्मेदारी अपने सिर ले, जिससे भूदान में प्राप्त जमीन का ठीक उपयोग खेती के काम में हो सके।…यह कितने आश्चर्य की बात है कि सरकार भूदान-आन्दोलन के जरिये उत्पन्न वातावरण से समुचित लाभ उठा कर भूमि-समस्या त्वरित गति से हल करने के लिए सचेष्ट नहीं हो रही है? विनोबा भावे ने एक बार कहा था कि यदि एक ही क्षेत्र में कुछ गाँव ग्रामदान के रूप में मिलें, तो सर्वोदय के आदर्श पर समाज को ढालने का प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

अब इसका अवसर भी आ गया है। उड़ीसा के कोरापुट जिले में विनोबाजी को अब तक १२२६ गाँव प्राप्त हो चुके हैं, जहाँ वे सर्वोदय-समाज की रचना के लिए व्यवस्था कर चुके हैं। मदुरा जिले में भी उन्हें अब तक पूरे के पूरे ५० गाँव मिल चुके हैं और अब वे अलग-अलग गाँव की माँग से आगे बढ़कर पूरे तालुकों की माँग पर उतर आये हैं। इन क्षेत्रों में ही आत्म-निर्भरता, बुनियादी तालीम और सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी गांधीवादी विचारों का परीक्षण और प्रयोग किया जा सकता है।

इस समय तात्कालिक कार्य, जैसा कि विनोबाजी ने कहा है, यह है कि ऐसे कार्यकर्ता तैयार किये जायँ, जो बिना किसी प्रकार के लाभ की इच्छा से इस आन्दोलन में जुट जायँ। यह देखना है कि भूदान-आंदोलन में लगे कार्यकर्ताओं में से अब कितने ऐसे कार्यकर्ता निकलते हैं। विघटित भूदान-आंदोलन के स्थान पर हर जिले में भूदान-संगठन-कर्ताओं की नियुक्ति से अब इस बात का पता चलेगा कि जिस समस्या की ओर एक विशेष संस्था के आदर्शात्मक और संघटनात्मक स्वरूप के कारण बहुत कम लोगों का ध्यान रहा है, उसकी ओर अब कितने लोगों की प्रवृत्ति होती है।

('टाइम्स आफ इण्डिया' से जनवरी ९, १९५७)

बेसुध इन्सान

पूरब की एक कहानी है। एक बहुत धनवान् जादूगर के पास बहुत-सी भेड़ें थीं। जादूगर बड़ा कमीना था। वह न तो गड़रियों को नौकर रखना चाहता था और न जहाँ उसकी भेड़ें चरती थीं, उस चरोखर को बाड़ से घेरना चाहता था। इसलिए भेड़ें अक्सर जंगल में भटकती रहतीं, कभी खाइयों में गिर जातीं और कभी भाग जातीं, क्योंकि वे जानती थीं कि जादूगर उनकी खाल और गोश्त चाहता है। और उनको यह पसंद नहीं था।

निदान, जादूगर ने एक तरकीब निकाली। उसने सारी भेड़ों पर जादू का असर डाला और उनको मोहित कर लिया। उसने सबसे पहले उन्हें यह समझाया कि तुम अमीर हो और जब तुम्हारी खाल उतारी जाती है, तो तुम्हें कोई नुकसान नहीं पहुँचाया जाता। बल्कि उसमें उनकी भलाई है और उसमें उन्हें आनन्द होना चाहिए। दूसरी बात उसने यह समझायी कि मैं एक नेक मालिक हूँ और मैं तुमको इतना प्यार करता हूँ कि तुम्हारे लिए मैं चाहे जो करूँगा। तीसरी बात उसने यह समझायी कि अगर तुम्हारा कुछ नुकसान होने ही वाला हो, तो कम से कम इसी क्षण तो कुछ नहीं होगा, कम से कम आज कुछ नहीं होगा, इसलिए उसकी फ़िक्र करने की कोई जरूरत नहीं। इसके अलावा जादूगर ने उनको यह भी समझाया कि भेड़ो, तुम भेड़ें हो ही नहीं। कुछ भेड़ों से उसने कहा कि तुम शेर-बबर हो, कुछ से कहा, तुम गरुड़ हो, कुछ से कहा, तुम मनुष्य हो और कुछ से कहा, तुम जादूगर हो।

इसके बाद भेड़ों के बारे में उसकी सारी फ़िक्र और परेशानी खतम हो गयी। फिर वे कभी नहीं भागीं और चुपचाप उस दिन की राह जोहती रहीं, जब कि जादूगर को उनके गोश्त और खाल की जरूरत होगी।

यह किस्सा मनुष्य की हालत का बहुत अच्छा उदाहरण है।

—जार्ज गुर्जीफ़

गांधी की बात

गांधीजी की बहुत ही तारीफ हुई। हालाँकि कुछ ने उनकी बुराई भी की और कुछ उन्हें समझ भी न पाये। लेकिन बहुत-सों ने तो उनको 'महान्' ही समझा और 'युग-पुरुष' ही माना। कितनों ही की सराहना सच्ची होते हुए भी, स्थूल ही रही। आजादी की लड़ाई के दिनों में गांधी को जेल में चरखा कातते हुए तस्वीरों में दिखलाया गया, जिनमें भगवान् कृष्ण उन्हें कपास की पूनी अपने हाथों दे रहे हैं। ऐसी बातें भी उड़ीं कि गांधीजी को अंग्रेज़ों ने अहमदनगर की जेल में बन्द कर दिया; लेकिन फिर भी चौपाटी पर लेक्चर देते नजर आये, वगैरा। बहरहाल, वे सब उन लोगों के अन्धविश्वासी प्रयास थे, जो किसी भी इन्सान को, सिवाय उसके अजीबोगरीब तरीके से जादूगर-सा ताक़तवर बने, महान् या उच्च समझ ही नहीं सकते।

परन्तु इस स्थूल दृष्टिकोण और मोटी श्रद्धा में भी एक 'सत्य' था। गांधी एक 'अवतारी' पुरुष था और उसका साथ विश्व की 'अंतरात्मा' अथवा 'सामूहिक शक्ति' दे रही थी, इसमें भी भला क्या किसीको सन्देह हो सकता है? और जादूगरी, तिलस्म-करिश्मे की बात करो, तो मैं पूछता हूँ कि इससे बढ़कर करिश्मा क्या जो गांधी ने किया? एक निहत्थे व्यक्ति ने अंग्रेजी हकूमत को ललकारा, गोली-बन्दूक के आगे अपनी छाती की और मज़ा यह कि लाखों ने उसका साथ दिया। अंग्रेज भी आखिर भारत छोड़ कर कूच कर गये। यदि यह एक करिश्मा दुनिया के इतिहास में एक अजीबोगरीब घटना (जो आज तक नहीं हुई) नहीं, तो क्या है? क्या कमाल सिर्फ धोती को फाड़ कर रूमाल बना देना है? नहीं, सबसे बड़ा कमाल तो आदमी का दिल बदल कर उसे झूठ से सच पर लगा, उसे शेरसा बहादुर बना, सोते से जगा देना है और गांधी ने यही कुछ तो किया। कहाँ थी उसकी ताकत? कौन-सा गोला-बारूद भरा था उसमें? क्या उसने लोगों को लालच दिया था? कहीं उन्हें डराया तो नहीं? फिर कैसे उन्हें बहकाया कि वे उसके साथ लगे? गांधी की शक्ति कहाँ थी और कहाँ थी उसकी प्रेरणा?

उसने खुद कहा, मैं तो मुल्क की आजादी के लिए इसलिए लड़ रहा हूँ कि यदि मैं ऐसा न करूँ, तो मुझे मुक्ति नहीं मिलेगी। उसके लिए तो यह ईश्वर का काम था—'ईश्वर का हुक्म और धर्म का काम'—मुल्क को आजाद कराये। उसे अंग्रेजों से वैर नहीं था; न ही राज-भोग की चाह थी। उसे तो केवल अपना धर्म निभाना था, कर्तव्य पालन करना था, भले ही उसमें उसकी जान जाती (और गयी है) या रहती; वह जीतता या हारता; उसे तो अपना काम करना था और वह उसे पूरा करके रहा ही। धन्य है 'वह।'

उसमें सिर्फ एक शक्ति थी और एक था बल—आत्मबल। इसके अलावा एक और थी उसकी चाल—सोलह आने साफ-निष्कपट होना, दिल की सच्चाई और विरोधी से भी उतना ही प्यार करना, जितना कि सगे-संबंधी, मित्र-बंधु से। ऐसी ही आत्मिक शक्ति अंग्रेजों को मात दे गयी। उसके सीधे-सादे सांफ-साफ और सच्चे-सच्चे 'बेजोड़ पैतरों' के आगे उनकी कूटनीति की भी एक न चली। निस्सन्देह, हमारी आजादी मिलने में दूसरे कितने ही कारण भी रहे; परन्तु जहाँ तक हमारे खुद के पुरुषार्थ और उद्योग का सवाल है—गांधी की देन अमूल्य है।

और एक बात में तो वह बहुत ही 'विशेष' रहा। मानव को बतला गया कि कैसे अन्याय, अत्याचार अथवा शोषण का विरोध, बिना हथियार, बिना शारीरिक बल—केवल 'असहयोग और सत्याग्रह' द्वारा किया जा सकता है। मेरे खयाल में तो मानव इतिहास में उसने एक नये युग का ही सूत्रपात किया है।

('जीवन साहित्य' से) —मनसुखा

विद्रोहात्मक प्रयोजन

हमें एक नये प्रयोजन का भान प्राप्त करना चाहिए। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस प्रयोजन का एक रास्ता होगा, विश्व को यंत्र मानने वाले तत्त्वज्ञान के विरुद्ध विद्रोह और उस तत्त्वज्ञान के भी विरुद्ध विद्रोह, जो मनुष्य को और दूसरे प्राणियों को एक आर्थिक यंत्र के कलपुर्ज़े समझता है!

—लॉर्ड नॉर्थ बोर्न

---

www.vinoba.in

लोकतंत्र का आधार : सहिष्णुता

लोकतंत्र तभी टिक सकता है, जब कि उसका आधार सहिष्णुता हो। परन्तु हम देख रहे हैं कि आजकल भी असहिष्णुता का बाज़ार गर्म है, जिसके चलते बहुत से लोगों के मन में कुछ गलत धारणा उत्पन्न हो गयी है और इस प्रकार वास्तविक लोकतंत्र के मार्ग में एक प्रकार की बाधा उपस्थित हो जाती है। ऐसी अवस्था में यह अनुचित न होगा, यदि हम इस बात पर विचार करें कि वस्तुतः सहिष्णुता है क्या चीज।

सहिष्णुता लोकतंत्र का आधार है। परन्तु मनुष्य की नैतिकता का यह एक व्यक्त रूप है। यह एक प्रकार की ऐसी विशेषता भी है, जिसके कारण कोई व्यक्ति दूसरों के दुर्गुणों या दोषों को जानते हुए भी उसके प्रति सहिष्णुता का भाव दिखाता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि, वह दुर्गुणों का तो विरोध करता है, किन्तु दोषी व्यक्ति के प्रति अपने मन में कोई दुर्भाव नहीं ले आता। लेकिन हम आम तौर से जिसे सहिष्णुता कहते हैं और जो वस्तुतः विचारणीय है, वह धार्मिक विश्वासों या राजनीतिक मान्यताओं से ही सम्बन्ध रखती है। यह एक प्रकार की सार्वजनिक नैतिकता का प्रश्न है, जिसके अनुसार लोग अपने धार्मिक विश्वासों या राजनीतिक मान्यताओं से भिन्न मतवालों को तरह देते हैं। यह सार्वजनिक नैतिकता का प्रश्न वैधानिक सिद्धान्त की बात हो गयी है।

धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में जिस प्रकार विचार-स्वातन्त्र्य राजनीतिक सिद्धान्त की बात हो गयी है, उसी प्रकार सहिष्णुता का सिद्धान्त प्रतिस्पर्धी धार्मिक समाज अथवा वर्गगत विरोध पक्ष के सम्बन्ध में भी अग्रसर किया गया है। एक उदाहरण लीजिये—जब एक ओर ईसाई धर्म के मानने वाले हों और दूसरी ओर इस्लाम के मानने वाले हों; या ईसाई धर्म के अन्तर्गत ही, जब एक ओर कैथोलिक हों और दूसरी ओर प्रोटेस्टेन्ट हों, तो निश्चय ही दोनों पक्षों के बीच शत्रुता उत्पन्न हो सकती है, जिसके चलते उभय पक्षों के बीच घृणा का भाव बढ़ सकता है। ऐसी अवस्था में सहिष्णुता के सिद्धान्त की आवश्यकता बहुत अधिक मालूम पड़ती है। जब एक ही समाज के अन्दर कई प्रकार के धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हों, तो सहिष्णुता का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। यह जरूर है कि उनकी सांप्रदायिक असहिष्णुता उतनी उग्र नहीं होती, जितनी दो धर्मों के मानने वालों को होती है।

राज्य और नागरिक तथा स्वयं नागरिक-नागरिक के बीच भी सहिष्णुता अत्यावश्यक है। यह बात इस उदाहरण से समझिये—ब्रिटेन में जहाँ 'ऐंग्लिकन् एपिस्कोपल चर्च' राज्य का मान्य धर्म है, वहाँ कैथोलिकों या गैरकॉन्फार्मिस्टों को इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जाता कि वे राज्य का धर्म स्वीकार कर लें। ठीक उसी तरह उन देशों में, जहाँ रोमन कैथोलिक धर्म राज्य-धर्म के रूप में मान्य है, प्रोटेस्टेन्टों या गैर कैथोलिकों को रोमन कैथोलिक धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जाता, बल्कि होता यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी मान्यता के अनुसार धर्म स्वीकार करने की छूट रहती है। सहिष्णुता की यह नीति धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में तो मान्य है ही, अन्य प्रकार के विषयों में भी, जैसे विचारों और सिद्धान्तों में इसे प्रचलित किया गया है।

नागरिक और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में नागरिकों की सदा से यह माँग रही है कि उनके साथ राजनीतिक सहिष्णुता का व्यवहार किया जाय और इसे अनेक देशों के संविधानों ने विचारों और विश्वासों की स्वतंत्रता के रूप में स्वीकार भी किया है। उनको इसलिए ऐसी स्वतंत्रता प्रदान की गयी कि जिसमें अपनी प्रचण्ड शक्ति के द्वारा राज्य कहीं असहिष्णु होकर उनका दमन न करने लगे। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय, तो सहिष्णुता का अर्थ है, राजनीतिक नैतिकता और स्वतन्त्रता के आश्वासन का अर्थ है, सहिष्णुता का आश्वासन।

('यूनाइटेड एशिया' से) —— —कोटारो तनाका

हिंसा का गलत आधार

समाजवाद का तत्त्व यह है कि यह ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहता है, जिसके अनुसार समाज के सभी सदस्यों को अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त हो और वे कुशलपूर्वक रह सकें तथा उनके कष्ट घटें और रहन-सहन के बुरे तरीके दूर हों। ऐसी व्यवस्था तभी सम्भव है, जब लोग दूसरों के प्रति अच्छा व्यवहार करें और उन्हें पीड़ा पहुँचाने या कष्ट में डालने में हर्ष का अनुभव न करें। किन्तु समाज के नव-निर्माण के अपने प्रयत्न में यदि लोग अपने विरोधियों को कष्ट पहुँचाते रहें, तो वे सद्व्यवहार की बात नहीं सीख सकते। प्रेम और मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध की स्थापना घृणा और द्वेष के आधार पर नहीं हो सकती, न तो वह शक्ति और हिंसा का सहारा लेकर ही स्थापित किया जा सकता है। इसका यह मतलब नहीं कि मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि हिंसा और शक्ति का उपयोग हो ही, किन्तु यदि अनिवार्य रूप से उसकी आवश्यकता पड़ जाय, तो उनका कम-से-कम प्रयोग करना चाहिए और प्रयोग करते समय इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि इनका प्रयोग करने वालों को और जिस उद्देश्य से इनका प्रयोग किया जाता है, उसको भी इनसे क्षति पहुँचती है। वह समाज कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। जिसके सदस्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति का सामान्य तरीका हिंसा को मानते हैं, जहाँ समाजवाद की स्थापना हिंसा के आधार पर होती है, वहाँ उस पर हिंसा की छाप बराबर लगी रहती है, जिससे मुक्त होने के लिए उसे बराबर संशुद्धि की आवश्यकता रहती है।

समाजवाद का सही स्वरूप

मेरी धारणा के अनुसार समाजवादी उस-उस प्रवृत्ति का प्राणी है, जो यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने समाज के प्रबन्ध में भाग लेने का समान रूप से अधिकार है। साथ ही उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह अन्य समाजों (देशों) के सदस्यों के साथ मिल कर इस बात के लिए प्रयत्न करे कि प्रत्येक देश में मानव मात्र की समानता के आधार पर समाज का संघटन हो। इसमें सन्देह नहीं कि सब लोगों की योग्यता एक-समान नहीं होती और न सबकी कार्यक्षमता ही एक तरह की होती है, किन्तु समाजवादी यह कहता है कि जहाँ तक व्यवहार्य हो, सबके अधिकार समान समझे जायँ। जो ठीक-ठीक यह भाव ग्रहण करे, वही यथार्थतः समाजवादी हैं और इस आधार पर ही वह अपने साथियों से समाजवादी व्यवस्था खड़ी करने में समर्थन की माँग करता है। यदि वह यह बात भूलता है, या इसे ठीक तरह से समझ नहीं पाता और फिर भी अपने को समाजवादी कहता है, तो वह वंचना करता है और निश्चय ही शिष्ट लोगों का समर्थन पाने का अधिकारी नहीं है। यद्यपि मेरी यह बात कड़वी लगेगी, किन्तु यथार्थता देख कर ही इसे कहना पड़ रहा है।

('वर्ल्ड सोशलिज़्म रीकन्सिडर्ड' से) —जी. डी. एच. कोल

वैभव का मूल : परिवर्तन

एक समय था, जब कि वैभव के अनार्य प्रदर्शन का प्रभाव लोगों के मन पर होता था। अब वह प्रभाव कम हो गया है और होता जा रहा है; बल्कि अब तो उसका अधिकाधिक विपरीत परिणाम ही फैलता हुआ दिखायी देता है। इसके बाद अमेरिका और इंग्लैंड के धनवानों ने लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए दान-धर्म का सहारा लिया। इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि 'दान' शब्द, जिसकी कि उन्नीसवीं शती के परोपकारवादियों ने बिलकुल मिट्टी पलीत कर दी थी और भी गिरने लगा। अब उस शब्द का व्यवहार ही टालना पड़ रहा है। सार्वजनिक और राष्ट्रीय निधियों को देनगियाँ देने के अनेक प्रयोगों के बाद अब धनवानों को यह भली भांति मालूम हो गया है कि धन के लिए सबसे बेहतर चीज़ है, उसके बारे में चुप रहना और अब जो दूसरा सवाल निश्चित रूप से पैदा होगा, वह यह है कि सुख से जीवन बिताने के लिए जितना जरूरी है, उससे ज्यादह इकट्ठा करने में क्या कोई मतलब है? आखिर मनुष्य की ज़रूरतों की एक हद है। जीवन के दूसरे वैभव, खासकर दूसरों के मन में हमारी इज्ज़त, जिसकी कि हममें से बहुतेरे इतनी क़दर करते हैं, अब तो पैसे की मंडी से उठ चुके हैं।

('ट्रू लिव इन मैनकाइंड' से) —— —रेजीनॉल्ड रेनॉल्ड्स

विद्वान् बनाम 'केवल' विद्वान्!

'विद्वत्ता' शब्द का अर्थ हम लोग दूसरे देशों की अपेक्षा संकीर्ण करते हैं। हम उनको ग्रंथज्ञान तक ही सीमित करते हैं। दर-असल, कोई भी कारीगर, यदि वह अपने व्यवसाय का रहस्य और तत्त्व जानता हो, तो, विद्वान् कहला सकता है। अच्छा राज, अच्छा मोची और इसी तरह के कुशल कारीगर, 'विद्वान्' संज्ञा के पात्र हो सकते हैं। देश के योग-क्षेम के लिए ऐसे विद्वान् उन दशग्रंथी विद्वानों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हैं, जो कि एक कोने में बैठ कर किसी दीमक लगी हुई पुस्तक पर नज़र गड़ाये रहते हैं और मरे हुए मनुष्यों से ही वार्तालाप करते हैं। देश के लिए 'केवल विद्वान्' की अपेक्षा अधिक मामूली और फालतू दूसरा कोई नागरिक नहीं है। —जेम्स हॉवेल

www.vinoba.in

तमिलनाड़ की क्रांतियात्रा से

(निर्मला देशपांडे)

मदुरा जिले का आखिरी पड़ाव था। मदुरा, त्रिची और रामनाड़; तीन जिलों के संगम-स्थान, पहाड़ और जलाशयों की सन्निधि में एक छोटे-से गाँव में, विशाल वृक्ष की छाया में तमिलनाड़ के प्रमुख कार्यकर्ताओं की सभा चल रही थी। एक कार्यकर्ता अपना अनुभव सुनाते हुए 'तालुका-दान' की माँग पूरी करने के लिए कटिबद्ध होने की प्रतिज्ञा कर रहा था। मदुरा जिले के १२७ ग्रामदानों ने उनकी वाणी में तेज पैदा किया था। श्री जगन्नाथनजी ने तालुका-दान का संकल्प घोषित किया।

अमेरिकन मिशनरी भाई, श्री कैथान ने कहा : "ग्रामदान का अनुभव मेरे लिए एक अद्भुत और अपूर्व अनुभव है। विनोबाजी हमारे साथ हैं, यह हमारा परम भाग्य है। मुझे लगता है कि भगवान् की हस्ती हमारे बीच है। मैंने अपने ईसाई भाइयों से कहा है कि अगर हम इस काम को नहीं उठाते हैं और समय नहीं पहचानते हैं, तो ईसा मसीह का धर्म समाप्त ही समझो।" गांधीग्राम की डॉ० सौंद्रम् ने कहा—"ग्रामदान में हमें एक जन-आन्दोलन का दर्शन हो रहा है। अब हम छोड़ना चाहें, तो भी जनता हमें नहीं छोड़ेगी।" कल्लुपट्टी-आश्रम के श्री गुरुस्वामी ने कहा—"यहाँ एक बहुत बड़ा परिवर्तन चल रहा है, परंतु मालूम नहीं कि इसे कौन चला रहा है।" मद्रास सरकार के विकास-विभाग के प्रमुख श्री व्यंकटाचलपती ने कहा—"हमारा ग्रामराज्य का सपना जीवन में लाने का मौक़ा ग्रामदान से मिल रहा है। गुंडूरकुडी मठ के अधिपति ने कहा कि "धर्म की बुनियाद भूदान है। पूरे तामलनाड़ का दान होगा, तो सारे भारत में रामराज्य की स्थापना होगी।"

विनोबाजी की आँखों से आँसू बह रहे थे। गद्‌गद् स्वर में उन्होंने कहा, "सचमुच में हम धन्य हैं। यहाँ एक ओर रामानुज का तालुका है, तो दूसरी ओर माणिक्यवाचकर का। भारत पर असंख्य सत्पुरुषों की वर्षा हुई है। सारा भारत ही एक बड़ा पुण्य क्षेत्र है। आज मेरे साथ कई साथी हैं, परंतु तेलंगाना में, जब कि मैं अकेला था, मैंने कभी यह महसूस नहीं किया कि मैं अकेला हूँ। मुझे लगता था कि सारे सत्पुरुषों का आशीर्वाद मेरे साथ है। हमारा मुख्य कार्य है, ग्रामदान प्राप्त करना और देश के सामने प्रश्न-चिह्न खड़ा करना, न कि प्राप्त हुए सौ-दो सौ ग्रामदान लेकर उसमें विकास-कार्य करने के लिए बैठ जाना, क्योंकि ग्रामदान हृदय-परिवर्तन से होता है। हम पूर्णविराम नहीं हैं, प्रश्नचिह्न हैं।"

हाल ही में विनोबाजी ने एक पत्र में लिखा था : "तमिलनाड़ में ग्रामदान की विशेष संभावना नहीं, ऐसा यहाँ के नेताओं का खयाल था। मैं यह नहीं मानता था, बल्कि उससे उल्टा ही मानता था। आखिर सात महीनों के प्रतियोग और सातत्य-योग से भ्रम-निरास हुआ। मदुरा जिले में रोज ग्रामदान सुनता हूँ। ये ग्रामदान कोरापुट के जैसे अशिक्षित नहीं हैं। इन गाँवों में शिक्षित भी काफी मात्रा में हैं; बल्कि शिक्षितों का उसमें काफी अभिक्रम है। ग्रामदान के विचार की खूबी ही यह है कि श्रद्धावानों के लिए वह श्रद्धापात्र है और बुद्धिवानों के लिए बुद्धिग्राह्य है। सिर्फ संशयात्मा के लिए मामला मुश्किल हो जाता है। लेकिन उसका मामला तो ऐसा है कि जिसका भगवान् को भी कोई उपाय नहीं सूझा और 'संशयात्मा विनश्यति' कह कर उन्होंने हाथ धो डाले। पर बाबा को उनके लिए भी आशा है, क्योंकि न्यायशास्त्र में संशय भी ज्ञान-साधन के तौर पर मान्य किया गया है।"

दोपहर मदुरा ज़िले के प्रमुख कार्यकर्ता विनोबाजी से मिले। उन्होंने अनुरोध किया कि विनोबा फिर से मदुरा जिले में आयें, जिससे कि 'तालुका-दान' के काम को गति मिल सके। विनोबाजी ने कहा कि 'तालुका-दान याने वास्तव में एक बड़ी क्रांति है और क्रांति के काम के लिए विनोबा आ सकता है, दूसरे काम के लिए नहीं। एक भाई ने कहा कि अभी चुनाव के कारण काम की रफ्तार मंद होने की संभावना है। इस पर विनोबाजी ने कहा, "अगर उसके लिए चुनाव बाधा देगा, तो वह चीज होगी ही नहीं, चुनाव ही होगा। मैं वेद का अध्ययन करता हूँ। पुस्तक पर एक मक्खी आकर बैठती है और वह वेदाध्ययन में बाधा देती है, तो मैं क्या रहा वेद पढ़ने वाला? तालुका-दान से चुनाव की तुलना, वेद के साथ मक्खी की तुलना जैसी है। चुनाव तो हर देश में होते हैं, वह जीवन की एक मामूली वस्तु बन गयी है, जैसे शादी। शादी का भी मौसम होता है, तो शादी के कारण भूदान-ग्रामदान रुकता नहीं।"

आगे के काम की दिशा बताते हुए उन्होंने कहा, "अभी हमें यहाँ १२५ गाँव मिले हैं। अगर हम ऐसे सारे गाँव लेकर उन्हींमें नमूना पेश करने की दृष्टि से निर्माण-कार्य में शक्ति केन्द्रित कर देते हैं, तो सारे हिन्दुस्तान के काम का बोझ हम पर आ जायेगा! ग्रामदान के गाँवों में निर्माण-कार्य करने की जिम्मेवारी सिर्फ हम पर नहीं है, कुल देश पर है। उसमें से थोड़ा हिस्सा हम नमूने के लिए ले लेंगे, बाकी हमारा काम है, सर्वत्र आग लगाना। हम नमूना पेश करेंगे, परंतु हमारा ही नमूना सर्वश्रेष्ठ होगा, ऐसा दावा भी हम नहीं कर सकते हैं। बाबा ने यद्यपि ३० साल रचनात्मक कार्य किया, फिर भी बाबा में जो ताकत ग्रामदान प्राप्त करने की है, वह ग्रामदान के गाँवों को 'डेवलप' (विकसित) करने की नहीं है, क्योंकि ग्रामदान-प्राप्ति का मतलब है, हृदय-परिवर्तन। वह एक आध्यात्मिक कार्य है। निर्माण-कार्य में तो बाबा गलती भी कर सकता है। निर्माण-कार्य में एक ही नमूने से काम नहीं चलेगा। उस-उस गाँव की अलग-अलग बुद्धि से वहाँ अलग-अलग नमूने होंगे। रशियन लोगों ने सामूहिक खेती का प्रयोग जबरदस्ती से किया, जो असफल हुआ। जब हजारों ग्रामदान हो जायेंगे, तो कहीं हम प्रयोग करेंगे, कहीं सरकार से कहेंगे कि वह कुछ गाँवों में अपना प्रयोग चलाये, कहीं कम्युनिस्टों से और कहीं काँग्रेस से कहेंगे कि आप भी कुछ गाँवों को लेकर अपना-अपना प्रयोग चलाइये। मैंने कई बार कहा है कि ग्रामदान से सब सुखी ही होंगे, ऐसा नहीं। ग्रामदान के बाद सुखी होना है, तो सब सुखी होंगे और दुःख आया, तो सब दुःखी होंगे। ग्रामदान का अर्थ अधिक सुख नहीं, बल्कि सबका समान सुख-दुःख है। सुखी बनाना तो आयोजन की, अक्ल की बात है। लेकिन ग्रामदान एक आध्यात्मिक क्रांति है, क्योंकि उसमें मालकियत का मूल्य खत्म होता है। ग्रामदान के गाँवों में अलग-अलग प्रयोग चलेंगे, तो उससे देश को लाभ होगा।

"यह भ्रम हमारे मन में से निकल जाना चाहिए कि आज जो गाँव मिले हैं, उनमें हम कुछ नमूना पेश करेंगे, तो उसके आगे ग्रामदान-प्राप्ति में सहूलियत होगी। एक भाई ने पूछा कि क्या ग्रामदान से उत्पादन बढ़ेगा? मैंने जवाब दिया कि ग्रामदान से उत्पादन बढ़ाना मेरा धँधा नहीं है। तुम्हें भूख लगती है, तो तुम ही उत्पादन बढ़ाने वाले हो। मेरा काम यह कहना है कि तुम मालकियत छोड़ दो, एक होकर काम करो। बाँट कर खाओ। यद्यपि मैं मानता हूँ कि ग्रामदान से उत्पादन जल्द बढ़ेगा, फिर भी अगर आपने मालकियत छोड़ दी और उत्पादन घटा, तो भी मैं आनंद से नाचूँगा।"

एक भाई ने पूछा : "सर्वोदय की बुनियाद पर ग्रामदान प्राप्त करने के बाद अगर हम कम्युनिस्टों से कुछ गाँवों का विकास करने के लिए कहेंगे, तो सारा मामला बिगड़ नहीं जायेगा? वे मंदिर वगैरा तोड़ेंगे, मिलें चलायेंगे?"

विनोबाजी: "बुनियाद हो जाने पर ऊपर की फलानी खिड़की कैसी बनाना, आदि बातें बुनियाद पर आधार नहीं रखतीं। अगर सब घर बिलकुल एक ही नमूने के बनेंगे, तो चोर को अलग-अलग घर देखने की फिक्र नहीं रहेगी। हमारी बुनियाद है, मालकियत छोड़ना और प्रेम से काम करना। फिर उस बुनियाद पर आगे चल कर आप गाँव का एक खेत बनाओ, चार बनाओ या दस। जिस प्रयोग से अधिक लाभ होगा, उसका अनुकरण दूसरे भी करेंगे।

"आज कम्युनिस्टों के लिए एक बड़ा भारी भ्रम है। मैं तो मानता हूँ कि दुनिया में गांधीवालों को छोड़ कर दयालु लोग अगर कोई नंबर दो में हैं, तो वे कम्युनिस्ट हैं। आज वे हिंसा क्यों करते हैं? इसलिए कि वे मालकियत मिटाना चाहते हैं, गरीबों को पूरा काम और दाम मिले, यह चाहते हैं। लेकिन ग्रामदान में वह काम तो प्रेम से हो जाता है। फिर हिंसा करने का कोई सवाल ही नहीं आता है। रूस एक कम्युनिस्ट देश माना जाता है, परंतु क्या वहाँ मंदिर तोड़े जा रहे हैं?"

उस भाई ने कहा : "लेकिन वे स्टॅलिन की पूजा सिखायेंगे।" विनोबाजी : "यह भी भ्रम है, क्योंकि यहाँ वे ग्रामदानी गाँवों में काम करेंगे। स्टॅलिन ने ग्रामदान हासिल नहीं किया था। और वे मंदिर तोड़ेंगे तो क्या जनता चुप बैठेगी? अगर गाँव वाले चाहेंगे कि मिल खड़ी की जाय, तो वे खड़ी करेंगे।"

उस भाई ने कहा : "तो फिर सभी लोग मिल खड़ी करने के लिए कहेंगे।" विनोबाजी : "अगर इस बारे में जनता की राय हासिल करना इतना आसान है, तो फिर सर्वोदय का विचार निकम्मा है। ग्रामदान हमने अपने ढंग से हासिल किया और उसे हम आसान मानते हैं, तो क्या फिर ग्रामदान के बाद खादी और ग्रामोद्योग करना

www.vinoba.in

कठिन है ? हम आपको दूसरा सवाल पूछेंगे। अगर अमेरिका वाले निजी मालकियत छोड़ देते हैं और बाँट-बाँट कर खाने का तय करते हैं, लेकिन खेती यंत्रों से करते हैं, तो वह सर्वोदय का नमूना होगा या नहीं ? वहाँ जमीन ज्यादा और जनसंख्या कम है। लेकिन वही प्रयोग अपने देश में कोई करने जायेगा, तो वह सफल नहीं होगा। अगर यहाँ खेती में यंत्रों का प्रयोग करना हो, तो बैलों को मार कर खाना होगा। गाँव वालों से बैलों को मार कर खाने की बात अगर कम्युनिस्ट करेंगे, तो क्या गाँव वाले उन्हें वहाँ रहने देंगे ?

"सर्वोदय की आर्थिक व्याख्या करनी हो, तो उसके पाँच विचारकों की पाँच प्रकार की व्याख्याएँ होंगी। परंतु इन सबमें जितना समान अंश होगा, वही सर्वोदय होगा। इनमें जो भिन्न अंश हैं, वे प्रयोग के विषय हैं। उसमें एक-दूसरे के प्रयोग देख कर मत परिवर्तन भी होगा। जहाँ हजारों ग्रामदान होंगे, वहाँ कम्युनिस्टों के दिमाग पहले जैसे नहीं रहेंगे। आप हृदय परिवर्तन में मानते हैं या नहीं ! तो फिर कम्युनिस्टों का हृदय-परिवर्तन होगा या नहीं ! अभी एक बड़े कम्युनिस्ट नेता हमसे मिलने आये थे। उन्होंने कबूल किया कि आंध्र की कम्युनिस्ट पार्टी ने २० एकड़ तरी जमीन के 'सीलिंग' की जो बात की थी, वह गलती थी। ग्रामदान होता है, तो कम्युनिस्टों का जो अच्छा अंश है, वह हमारे काम में आ ही जाता है। फिर और उनके पास कुछ दूसरी अच्छी चीज रहती ही नहीं। लेकिन हमारे पास उसके अलावा और कई अच्छी चीजें हैं और ग्रामोद्योग के विषय में तो सतत चर्चा चलती ही रहेगी।"

दक्षिण में मदुराई जिले में ग्रामदान की संख्या अब १३८ तक पहुच गयी है एवं सभी कार्यकर्ता पूरा तालुका ही दान में प्राप्त करने में जुट गये हैं।
तिरुकट्टुपल्ल, २१.१.५७ —तार से

सर्व-सेवा-संघ-दफ्तर की गया से बिदाई !

[गोरगया-सर्वोदय-समेलन के बाद, गया की प्रयोग-भूमि को, एवं साथ ही बिहार को, भूदान-आरोहण में सहायता करने की इच्छा से सर्व-सेवा-संघ का दफ्तर विनोबाजी की प्रेरणा से गया आया। आज उस बात को ढाई साल हो रहे हैं। दफ्तर प्रारंभ में गया और बोधगया में कुछ स्नेहाधारों के बल पर घूमता रहा। परंतु सुयोजित और बड़े स्थान का अभाव सतत बना रहा और अच्छी जगह की खोज भी होती रही। इस समय श्री बनविहारी प्रसाद भूप की स्वाभाविक उदारता ने आगे बढ़ कर संघ को फल्गु पार की अपनी विशाल 'दुर्गाकोठी' के लिए आमंत्रित किया और नीचे का सारा हिस्सा, जमीन आदि, निःशुल्क उपयोगार्थ दे दिया। इतना ही नहीं, सर्व-सेवा-संघ और उसके सतत आने वाले छोटे और बड़े मेहमानों के लिए वे अखीर तक स्नेहशील मेजबान ही बने रहे। कम कष्ट नहीं हुए होंगे उन्हें! लेकिन एक विशाल परिवार के जब वे एक श्रेष्ठ अंग ही बन गये थे तो ये कष्ट उन्हें क्यों बोझरूप लगते जब कि स्नेह की अखंड धारा भी अंतर-प्रवाहिनी फल्गु की भाँति ही परस्पर-में प्रवाहित होती रही थी ?

सारी संपत्ति के साथ उसके स्वामी को भी अपनी स्नेह-भक्ति गोद में बिठाकर "प्रेम से सब कुछ लूट लेने वाले" विनोबा का जो 'चेतन-संबंध' इससे इतना प्रेरक एवं बलदायी रहा है वह इस रूप में दोनों के लिए अमूल्य थाती ही बन गया है। —सं.]

दफ्तर खादीग्राम जाने के सिलसिले में ता. ९ जनवरी को श्री भूप बाबू, प्रीतिभोज के अवसर पर संघ को बिदाई दे रहे थे। हृदय उनका भर आया था और वह अश्रु-रूप से प्रकट हो रहा था। उन्होंने कहा : "एक दिन था, जब आप यहां आए थे। उस दिन जो आनन्द हुआ, उसीमें मगन रह कर मैंने यह सोचा भी नहीं था कि इतने शीघ्र वह समय आएगा, जब आप जाने की भी तैयारी कर लेंगे, यद्यपि मैं यह जानता था कि नदी की तीव्र धारा में बहते हुए तिनके कभी मिलते हैं, तो कभी बिछुड़ भी जाते हैं। वैसी ही दशा इस संसार में हमारी भी है। किन्तु, न तो मैं ज्ञानी हूँ और न संन्यासी। मैं एक गृहस्थ हूँ। मेरे मन में मोह है, आसक्ति है और मेरे पास आँखों में छलकते हुए दो बूंदों के अतिरिक्त और है ही क्या ! मुझे अपने प्रभु के पाँव पखारने हों, उन्हें रिझाना हो अथवा अपने इष्ट-मित्रों का तथा सज्जनों का स्वागत-सत्कार करना हो, तो ये जल-कण ही मेरी एक मात्र निधि, और एक मात्र साधन हैं।

"मानौं सबहि राम कर नाते !" यह सत्य है कि पूज्य बाबा के कारण ही हम सब यहां इकट्ठे हुए, एक दूसरे को हमने जाना तथा यह कहने का मुझे भी श्रेय तथा अधिकार मिला कि मैं भी विनोबा-परिवार का एक सदस्य हूँ। तथापि, पूज्य बाबा का निवास हृदय में होते हुए भी, प्रत्यक्ष रूप से आप सब हमारे समीप रहे। आपने हमारी त्रुटियों को नजदीक से देखा, हमारी दुर्बलताओं को जाना और हमारी असमर्थताओं के कारण अनेकानेक कष्ट भी सहे। साथ होना एक बात है और साथ रहना दूसरी बात है। इस दृष्टि से देखें तो यही कहना होगा कि इस तीस महीने के सहवास के अवसर पर मेरे अनेकानेक दोषों पर आपकी उदारता आवरण बन कर छा गयी, मेरे असंख्य अपराधों पर आपकी कृपा क्षमा बन कर मुस्कुरा उठी और एक शब्द में कहें, तो यही कहना चाहिए कि वस्तुतः आपने मुझे निबाह ही लिया।

"आपके जाने का मुझे तो असीम दुख होना स्वाभाविक है ही, किन्तु मैं देखता हूँ कि आपकी आँखें भी गीली हो रही हैं। आप कर्तव्य के कारण ही जा रहे हैं, यह मैं जानता हूं। फिर भी, आप सब तो साथ रहेंगे ही, केवल मैं ही अकेला आप सबसे बिछुड़ जाऊंगा। आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि आप इस अकेले को भी कभी-कभी स्मरण कर लिया करेंगे और यह न भूलेंगे कि कोई है, जो कभी न कभी यहां आपके पुनः वापस आने की बाट जोह रहा है। **मैं आपको इस अवसर पर पुनः विश्वास दिलाता हूं कि यह घर और सम्पत्ति ही नहीं, यह शरीर भी बाबा का हो चुका है।** संकोच है तो इतना ही कि यह एक बीमार शरीर है। रोगी देह की कीमत ही क्या ! मैं सौंपने चला बाबा को, तो एक रद्दी सा अपना तन ! इसका दुख जरूर है, किन्तु, जब तक इस शरीर से रामनाम का उच्चारण भी होता रहेगा, मुझे संतोष का अधिकार रहेगा कि पूज्य बाबा के चलाये हुए विश्वकल्याण के कार्य में अपनी शक्ति के अनुसार मैं अपना भाग अर्पित कर ही रहा हूँ !"

श्री वल्लभ स्वामीजी ने इसके बाद श्री भूप बाबू की सराहना करते हुए गदगद् स्वर में कहा कि "जब तक हम लोग आपके यहाँ रहे, हमें आपके तथा श्यामा बहन के स्नेह तथा आपकी उदारता का दिनोदिन अधिकाधिक परिचय मिलता गया, जिसकी स्मृति हमें सदा बनी रहेगी।" दफ्तर के विषय में उन्होंने कहा कि "कार्यालय को स्थानान्तरित किए जाने की तो अभी किसी को कल्पना भी नहीं थी, किन्तु, सन् ५७ के तंत्र कार्यक्रम के कारण ही, कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर यह कार्यालय अस्थाई रूप से "खादी ग्राम" ले जाया जा रहा है, जहाँ उसे श्री धीरेन्द्र भाई का प्रत्यक्ष सान्निध्य सहज ही प्राप्त होगा।" उन्होंने किञ्चित् विनोद का पुट देते हुए यह भी कहा कि "जैसे शिव जी के साथ शिव जी के गण भी होते ही हैं, उसी प्रकार संघ के कारण भिन्न भिन्न स्वभाव के लोग आपके यहां आते रहे, किन्तु आपने उन सब को अपने स्नेह में समाहित कर लिया।"

इस संबंध में श्री भूप बाबू को विनोबाजी ने लिखा :

"खादी-ग्राम का कुल आश्रम भूदान-आरोहण में जुट जायेगा। श्री धीरेन्द्र भाई जमुई में रहेंगे। दफ्तर से उनको और उनसे दफ्तर को बल मिलेगा। लेकिन आप ऐसा मान कर काम कीजिएगा कि मानो गया का दफ्तर आपके ही जिम्मे है।"

विषय-सूची

क्रम	विषय	लेखक	पृष्ठ
१.	गांधीजी और समाजवाद	जयप्रकाश नारायण	१
२.	निधिमुक्ति का क्रांत-दर्शन	अप्पासाहब पटवर्धन	१
३.	सत्-आवन की प्रार्थना : २.	आशादेवी आर्यनायकम्	२
४.	विश्व के राजनैतिक संदर्भ में सर्व-सेवा-संघ-प्रस्ताव	दादा धर्माधिकारी	३
५.	कितने हैं ऐसे 'सीताराम' को देखनेवाले ?	वासुदेवशरण अग्रवाल	४
६.	अंग्रेजी का भयावह भ्रमजाल	विनोबा	५
७.	क्रांति का ऐसा सस्ता सौदा !	,,	६
८.	भूदान-समितियों के विसर्जन के बाद !	,,	६
९.	नवयुग का नवोल्लास !	शंकरराव देव	७
१०.	पंचामृत	—	८–१०
११.	तमिलनाड़ की क्रांतियात्रा से	निर्मला देशपांडे	११
१२.	सर्व-सेवा-संघ को गया से विदाई !	—	१२

सिद्धराज ढड्ढा, सहमंत्री अ० भा० सर्व-सेवा-संघ द्वारा भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित और प्रकाशित। पता : पोस्ट बॉक्स नं०४१, राजघाट, काशी।

www.vinoba.in